मर्यादा शिष्योत्तम ज्ञानदिवाकर आचार्यश्री १०८ भरतसागरजी महाराज की
५१वीं जन्मजयन्ती के उपलक्ष में

पञ्चस्तोत्र संग्रह

[मूल पाठ, संस्कृत टीका, पुरातन-नूतन हिन्दी पद्यानुवाद
अन्वयार्थ भाषा सहित]

• भक्तामर स्तोत्र • कल्याणमन्दिर स्तोत्र • विषापहार स्तोत्र
• जिनचतुर्विंशति स्तोत्र • एकीभाव स्तोत्र

अनुवादकर्ता

डॉ० (पं०) पन्नालालजी साहित्याचार्य

• अकलंक स्तोत्र • सरस्वती स्तोत्र

अनुवादिका

आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

अर्थसहयोग

श्री पारसमलजी मनोजकुमार जैन, सिल्चर

एवं

श्री गौरीलाल सोहनलालजी गंगवाल, खारुपेटिया (आसाम)

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

भक्तामर स्तोत्र के रचयिता

मानतुंग-आचार्य

मालवा प्रान्त के उज्जैन नगर में राजा भोज राज्य करते थे। राजा गुणग्राही और विद्याप्रेमी थे। संस्कृत विद्या से तो उनकी गाढ़ रुचि थी। उनके राज्य में सभी लोक व्यवहार संस्कृत भाषा में ही चलता था। उनकी राज्य सभा में बड़े-बड़े संस्कृत विद्वान् थे। उनमें कालिदास, वररुचि आदि प्रसिद्ध थे।

एक दिन नगर-श्रेष्ठी सुदत्त अपने पुत्र मनोहर को लेकर राज्य सभा में पहुँचे। राजा ने सेठजी से पूछा—सेठजी ! आपका यह होनहार बालक क्या पढ़ता है ? सेठ जी ने कहा—राजा जी ! अभी इसने अध्ययन प्रारम्भ ही किया है। धनञ्जय नाममाला के केवल श्लोक ही इसने कंठस्थ किये हैं।

राजा ने कहा—सेठजी ! इस ग्रन्थ का नाम मैंने पहले कभी नहीं सुना ! इसके रचयिता कौन हैं ?

सेठजी ने कहा—महाराज ! स्याद्वादविद्यापारगंत महाकवि धनञ्जय की कृपा का यह प्रसाद है जिन्हें पाकर आपकी यह नगरी धन्य हुई है।

राजा ने कहा—ऐसे विद्वान् के आपने मुझे अभी तक दर्शन भी नहीं कराये। मुझे एक बार उनके दर्शन करना ही हैं।

राजा और सेठजी के मध्य हो रहे वार्तालाप को कालिदास सुन रहे थे। उन्हें जैनियों से स्वाभाविक द्वेष था अतः बीच में ही बोल उठे—महाराज ! वैश्य महाजन भी संस्कृत विद्या में पारंगत हो सकते हैं ? कालिदास का द्वेष उबल पड़ा। परन्तु गुणज्ञ राजा पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। राजा ने धनञ्जय जी को बुलवाया, वे पधार भी गये।

राज्य सभा में पहुँचते ही धनञ्जयजी ने आशीर्वादात्मक सुन्दर श्लोक सुनाया जिसे सुनकर राजा व सभाजन बहुत आनन्दित हुए। राजा ने उन्हें विशेष मान-सम्मान से बैठाया और आपस में कुशल क्षेम पूछा।

अनन्तर राजा ने कहा—आपकी विद्वत्ता लोक में प्रसिद्ध है; परन्तु हमें अभी तक आपका दर्शन नहीं मिला।

धनञ्जयजी ने कहा—कृपानाथ ! पृथ्वीपति ! आप जैसे पुण्यात्मा पुरुष का दर्शन बिना पुण्य के कैसे मिल सकता है ? आज मेरा भाग्य है जो साक्षात् दर्शन कर मेरा मनोरथ सफल हुआ है।

राजा—आप इतने बड़े विद्वान् हैं फिर इतना छोटा "नाममाला" ग्रन्थ आपको नहीं शोभता। आपने अवश्य किसी बड़े ग्रन्थ की रचना की है अथवा करना प्रारम्भ किया होगा।

द्वेषी कालिदास धनञ्जय की इतनी प्रशंसा सहन नहीं कर सका। उसने शीघ्र ही कहा—महाराज ! नाममाला हम लोगों की है। इसका यथार्थ नाम "नाममंजरी" है। ब्राह्मण ही इसके रचयिता हैं, वणिकों में इतनी बुद्धि कहाँ ? धनञ्जय से रहा नहीं गया—उन्होंने कहा—महाराज ! यह कृति मैंने बालकों के पठनार्थ रची है। हो सकता है इन लोगों ने मेरा नाम लोप करके अपना नाम रख लिया हो और नाममंजरी बना ली हो।

विद्याविशारद राजा ने ग्रन्थ मँगवाया और स्वयं परीक्षा की। अन्य विद्वन्मण्डली से समर्थन पाकर कालिदास से कहा कि—तुमने यह बड़ा अनर्थ किया है। दूसरों की कृति को छिपाकर अपनी कृति प्रसिद्ध करना चोरी नहीं तो क्या है ? कालिदास बिगड़ गया। वह बोला—ये धनञ्जय अभी कल तो उस मानतुंग के पास पढ़ता था जिसमें ज्ञान की गंध भी नहीं है, आज यह इतना विद्वान् कैसे हो गया जो ग्रन्थ रचने लगा। उस मानतुंग को ही बुलाइये। उससे शास्त्रार्थ करवा के देख लीजिये, इनके पाण्डित्य की परीक्षा हो जायेगी।

धनञ्जय को भी गुरु के प्रति कहे गये अनादरपूर्ण वचन सहन नहीं हुए। वे कुपित होकर बोले—ऐसा कौन विद्वान् है जो मेरे गुरु पर आक्षेप करता है। पहले मेरे सामने आवे पीछे गुरुवर का नाम लेना। कालिदास को अपने ज्ञान का अभिमान था। उसने धनञ्जय से शास्त्रार्थ छेड़ दिया। धनञ्जय से शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो कालिदास खिसिया गये और राजा से बोले—मैं इनके गुरु से शास्त्रार्थ करूँगा।

यद्यपि राजा धनञ्जय के पक्ष की प्रबलता जानते थे पर कालिदास के

संतोष के लिए शास्त्रार्थ का कौतुक देखने के लिए उन्होंने मानतुंगजी के निकट अपने दूत भेजे । दूतों ने मुनिराज से कहा—भगवन् ! मालवाधीश भोज राजा ने आपकी ख्याति सुन दर्शनों की अभिलाषा से आपको राज-दरबार में बुलाया है सो कृपा कर चलिये ।

मुनिराज ने कहा—दिगम्बर साधु को राजद्वार से क्या प्रयोजन है ? हम साधुओं को राजा से कुछ सम्बन्ध नहीं अत: हम उनके पास नहीं जा सकते ।

दूत हताश हो लौट आया । राजा ने दूत के वचन सुन पुन: उन्हें लाने को भेजा । इस प्रकार चार बार दूत खाली हाथ लौटे तो कालिदास ने राजा को उकसा दिया । राजा ने कुपित हो दूतों को आज्ञा दे दी कि जिस भी तरह हो उन्हें पकड़कर ले आओ । परेशान सेवक तो यह चाहते ही थे । वे तत्काल साधुराज को पकड़ लाये और राज्य सभा में खड़ा कर दिया ।

साधुराजजी ने उपसर्ग समझकर मौन धारण किया और साम्य भाव का आलम्बन लिया । राजा ने बहुत चाहा कि ये कुछ बोलें किन्तु धीर-वीर गंभीर दिगम्बर सन्त सुमेरुवत् अटल रहे । उनके मुँह से एक अक्षर भी नहीं निकला । तब कालिदास व अन्य द्वेषी ब्राह्मण बोले—राजन् ! हमने कहा था यह महामूर्ख है, आपकी सभा को देखकर यह इतना भयभीत हो चुका है कि इसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा है । गुरुभक्तों ने इस समय साधुराज से बहुत प्रार्थना कि—"गुरुदेव आप सन्त हैं, इस समय थोड़ा धर्मोपदेश दीजिये, राजा विद्या विलासी है उपदेश सुनकर सन्तुष्ट होगा । परन्तु वे धीर-वीर अडोल अकम्प हो रहे । क्रोधित होकर राजा ने उन्हें हथकड़ी और बेड़ी डलवाकर अड़तालीस कोठरियों के भीतर एक बन्दीगृह में कैद करवा दिया और मजबूत ताले लगवाकर पहरेदार बैठा दिये ।

मुनिश्री तीन दिनों तक बन्दीगृह में रहे । चौथे दिन आदिनाथ स्तोत्र की रचना की जो कि यन्त्र-मन्त्र से गर्भित है । ज्यों ही स्वामी ने एक बार पाठ पढ़ा त्यों ही हथकड़ी, बेड़ी और सब ताले टूट गये और खट-खट दरवाजे खुल गये । स्वामी बाहर निकलकर चबूतरे पर आ विराजे । बेचारे पहरेदारों को बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने मुनिश्री को पुन: कैद कर दिया ।

परन्तु कुछ ही क्षणों में पूर्ववत् मुनिश्री की स्थिति हुई, सेवकों ने पुन: कैद कर दिया, पर इस बार भी मुनिश्री बाहर आ विराजे। परेशान हो सेवकों ने राजा से सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु राजा ने भी यह सोच कर कि शायद सेवकों के प्रमाद से यह हुआ है, सेवकों को पुन: कैद करने की आज्ञा दे दी। और कहा अच्छी तरह निगरानी रखो यह सब तुम लोगों के प्रमाद से हुआ है। सेवकों ने राजाज्ञा से पुन: उन्हें कैद कर दिया; परन्तु फिर वही पूर्ववत् स्थिति बनी। सकलव्रती मुनिराज इस समय तो सीधे बाहर निकलकर राजसभा में जा पहुँचे।

तपस्वी मुनिराज के दिव्य शरीर की प्रभा के प्रभाव से राजा का हृदय काँप गया। उन्होंने कालिदास को बुलाकर कहा—कविराज ! मेरा आसन अब कम्पित हो रहा है। मैं अब इस सिंहासन पर एक क्षण भर भी नहीं ठहर सकता। कालिदास को कालीदेवी का इष्ट था। अत: उसने काली देवी का स्मरण किया। वह तुरन्त प्रगट हो गई।

इसी समय मुनिराज के समीप चक्रेश्वरी देवी ने आ उनके दर्शन किये। चक्रेश्वरी का रूप सौम्य और कालिका का विकराल चण्डी रूप देखकर राज्य सभा चकित हो गई। चक्रेश्वरी ने फटकार कर कालिका से कहा कि कालिके ! तूने यह क्या ठानी है, क्या तू मुनिश्री पर उपसर्ग करना चाहती है ? यदि ऐसा है तो तू ही देख लेना कि मैं भी तेरी क्या दशा कर सकूँगी। कालिका चक्रेश्वरी के वचन सुनते ही काँप उठी और नाना प्रकार के मधुर वचनों से उनकी स्तुति करने लगी। चक्रेश्वरी ने कालिका को बहुत उपदेश दिया और अन्तर्धान हो गई। पश्चात् कालिका ने मुनिश्री से क्षमा प्रार्थना की और वह भी अन्तर्धान हो गयीं।

राजा भोज व कालिदास ने मुनि का प्रताप देखकर क्षमा माँगी और नाना प्रकार से स्तुति की। राजाभोज ने मुनिराज से श्रावक के व्रत लिये और अपने राज्य में जैनधर्म का खूब प्रचार किया।

जैनधर्म की जय हो !

ॐ

श्री वृषभाय नमः

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचितम्

भक्तामर स्तोत्रम्

(श्रीआदिनाथस्तोत्रम्)

(वसन्ततिलका छन्द)

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ।। १ ।।
यः संस्तुतः सकलावाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ।। २ ।।

(युग्मं)[1]

कविवर पं० गिरधर शर्मा नवरत्न-कृत हिन्दी-पद्यानुवाद

हैं भक्त-देव-नत मौलि-मणि प्रभाके,
उद्योत-कारक, विनाशक पापके हैं ।
आधार जो भव-पयोधि पड़े जनोंके,
अच्छी तरा नम उन्हीं प्रभुके पदोंके ।। १ ।।

---

१. *द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।*
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ।।

जहाँ दो श्लोकों में क्रिया का अन्वय हो उसे युग्म, तीन में हो उसे विशेषक, चार में हो उसे कलाप और पाँच, छह आदि में हो उसे कुलक कहते हैं ।

श्री आदिनाथ विभुकी स्तुति मैं करूँगा,
की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्होंकी।
अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय-चित्तहारी,
सुस्तोत्रसे सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥ २ ॥

श्री चन्द्रकीर्तिकृत संस्कृत टीका

प्रारिप्सितविघ्नानिवृत्तये स्वेष्टदेवतानमस्कारलक्षणं कृतं मंगलं स्तवनरूपं ग्रन्थे निबध्नन्नाह–

टीका—भक्तामरेति। किलेति संभावनायां। अहमपि मानतुंगाचार्यः। तं प्रथमं जिनेन्द्रम् श्रीवृषभदेवं। स्तोष्ये स्तवनं करिष्यामीत्यर्थः। ष्टुञ् स्तुतावित्यस्य धातोः प्रयोगः। किं कृत्वा? जिनपादयुगमर्हच्चरणद्वन्द्वम् सम्यग्यथोक्तप्रकारेण नत्वा। जिनपादयोः युगं जिनपादयुगम्। कथंभूतं जिनपादयुगम् भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणां उद्योतकं। भक्ताश्च ते मराः शतेन देवास्तेषां मणयस्तेषां प्रणता नम्रीभूता ये मौलयः किरीटास्तेषां मणयस्तेषां प्रभा कान्तयस्तासाम्। उद्योतयतीति उद्योतकम्। पुनः कथंभूतम् दलितपापतमोवितानम्। दलितं पापन्येव तमांसि तेषां वितानं येन तत्। पुनः कथंभूतम्? युगादावेतदवसर्पिणीकाले। भवजले-संसार-सागरे, पततां-निमज्जतां, जनानां-लोकानां, आलम्बनंहस्तावलम्बनमित्यर्थः। तं कम्? यः भगवान् सुरलोकनाथैः। शतेन्द्रादिभिः स्तोत्रैः स्तवनैः संस्तुतः। कथंभूतैः सुरलोकनाथैः। सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात् सकलं-समस्तं यद्वाङ्मयं तस्य तत्त्वबोधो-यथार्थज्ञानं तस्मात्। उद्भूतबुद्धिपटुभिः उद्भूताः समुत्पन्ना या बुद्धयो मनीषास्ताभिः पटवो वाचालास्तैः। कथंभूतैः स्तोत्रैः जगत्त्रितयचित्तहरैः। जगतां त्रितयं तस्य चित्तानि मनांसि हरन्तीति तानि तैः। पुनरुदारैर्गंभीरैरित्यर्थः ॥ १-२ ॥ (युग्मं)

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी कृत अन्वयार्थ, भावार्थ

अन्वयार्थ—(भक्तमरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्त देवों के झुके हुए मुकुट सम्बन्धी रत्नों की कान्ति के (उद्योतकम्) प्रकाशक (दलितपापतमोवितानम्) पापरूपी अन्धकार के

विस्तार को नष्ट करने वाले और (युगादौ) युग के प्रारम्भ में (भवजले) संसार रूप जल में (पतताम्) गिरते हुए (जनानाम्) प्राणियों के (आलम्बनम्) आलम्बन-सहारे (जिनपादयुगम्) जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों को (सम्यक्) अच्छी तरह से (प्रणम्य) प्रणाम करके (यः) जो (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) समस्त द्वादशांग के ज्ञान से (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धि के द्वारा चतुर (सुरलोकनाथैः) इन्द्रों के द्वारा (जगत्त्रितय-चित्तहरैः) तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त को हरने वाले और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रों से (संस्तुतः) स्तुत किये गये थे (तम्) उन (प्रथमम्) पहले (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र ऋषभनाथ को (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चय से (स्तोष्ये) स्तुति करूँगा ।

भावार्थ—देवों के द्वारा पूजित, पाप-समूह को नष्ट करने वाले और हित का उपदेश देकर प्राणियों को संसार-समुद्र से निकालने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को नमस्कार कर मैं भी उन भगवान् ऋषभनाथ की स्तुति करूँगा, जिनकी स्तुति स्वर्ग के इन्द्रों ने मनोहर स्तोत्रों के द्वारा की थी ।। १-२ ।।

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ।। ३ ।।

हूँ बुद्धिहीन फिर भी बुध-पूज्यपाद,
तैयार हूँ स्तवनको निर्लज्ज होके ।
है और कौन जगमें तज बालको जो,
लेना चहे सलिल-संस्थित चन्द्र-बिम्ब ।। ३ ।।

टीका—हे विबुधार्चितपादपीठ ! अहं मानतुंगः कविः । बुद्ध्या विनापि मतिहीनोऽपि । त्वां भगवन्तम् । स्तोतुं समुद्यतमतिवर्ते । विबुधैश्चतुर्णिकायाऽमरैः अर्चितं पूजितं पादयोः पीठं सिंहासनं यस्य स

तस्यामंत्रणं । समुद्यता मतिर्यस्य सः । कथंभूतोऽहं विगता त्रपा लज्जा यस्य सः । बालं विहाय इति किं परित्यज्यान्यः को मतिमान्पुमान् । जलसंस्थित जले प्रतिबिम्बीभूतमिन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं । सहसा रभसा । ग्रहीतुमुपादातुम् । इच्छति वाञ्छेत् न कोऽपीत्यर्थः ।। ३ ।।

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितपादपीठ !) देवों के द्वारा पूजित है पादपीठ—पैर रखने की चौकी जिनकी ऐसे हे जिनेन्द्र ! (विगत-त्रपः) लज्जा-रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धि के बिना भी (स्तोतुम्) स्तुति करने के लिये (समुद्यतमतिः 'भवामि') तत्पर हो रहा हूँ, सो ठीक ही है क्योंकि (बालम्) बालक-मूर्ख को (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः) कौन मनुष्य (जलसंस्थितम्) जल में प्रतिबिम्बित (इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमण्डल को (सहसा) बिना विचारे (ग्रहीतुम्) पकड़ने की (इच्छति) इच्छा करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस तरह लज्जा रहित बालक जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है, उसी तरह लज्जा रहित मैं बुद्धि के बिना भी आपकी स्तुति करना चाहता हूँ ।। ३ ।।

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ।। ४ ।।

होवे बृहस्पति समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो गिन सके तव सद्‌गुणों को ।
कल्पान्त-वायुवश सिन्धु अलंघ्य जो है,
है कौन जो तिर सके उसको भुजा से ।। ४ ।।

टीका—भो गुणसमुद्र ! कः पुमान् । ते तव । गुणान् वक्तुम् यथार्थतया प्रतिपादयितुम् । क्षमः समर्थोऽस्ति । कथंभूतः सन् ? बुद्ध्या कृत्वा सुरगुरुप्रतिमोऽपि सन् सुरगुरुणा बृहस्पतिना प्रतिमीयतेऽसौ ।

कथंभूतान् गुणान् ? शशांककान्तान् शशांक: शरच्चन्द्रस्तद्वत्कान्तान्मनोज्ञान् अथवा उज्ज्वलान् । स्वस्याशक्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति । वा इति पक्षान्तरे । क: पुमान् भुजाभ्याममम्बुनिधिं तरीतुमलं समर्थो भवति । न कोऽपीत्यर्थ: । कथंभूतमम्बुनिधिं कल्पान्तकालस्य प्रलयकालस्य ये पवना वायवस्तैरुद्धता प्रकटीभूता ये नक्रा: पाठीना मत्स्यादयो जीवास्तेषां समूहा यस्मिन् स तम् ।। ४ ।।

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र !) हे गुणों के समुद्र ! (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (सुरगुरुप्रतिम: अपि) बृहस्पति के सदृश भी (क:) कौन पुरुष (ते) आपके (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमा के समान सुन्दर (गुणान्) गुणों को (वक्तुम्) कहने के लिये (क्षम:) समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं । (वा) अथवा (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम्) प्रलयकाल की वायु के द्वारा प्रचण्ड है मगर-मच्छों का समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्र को (भुजाभ्याम्) भुजाओं के द्वारा (तरीतुम्) तैरने के लिये (क: अलम्) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह प्रलयकाल की तीक्ष्ण वायु से लहराते और हिंसक जल-जन्तुओं से भरे हुए समुद्र को कोई भुजाओं से नहीं तैर सकता, उसी तरह कोई मनुष्य अत्यन्त बुद्धिमान् होने पर भी आपके निर्मल गुणों का वर्णन नहीं कर सकता ।। ४ ।।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त: ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रम्
नाभ्येति किं निजशिशो: परिपालनार्थम् ।। ५ ।।

हूँ शक्तिहीन फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो, स्तुति हुआ वश भक्ति के मैं ।
क्या मोह के वश हुआ शिशु को बचाने,
है सामना न करता मृग सिंह का भी ।। ५ ।।

टीका—हे मुनीश्वर, भो योगीश्वर ! सोऽहं मानतुंगाचार्यः । तथापि तथाविधः सन् । तव परमेश्वरस्य । भक्तिवशात् भक्त्या लीनः सन् । विगतशक्तिरपि स्तवं कर्तुमुद्यत प्रवृत्तः । विगता शक्तिरस्य । स्वस्य धाष्टर्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति । मृगो हरिणः । प्रीत्या स्नेहेन । आत्म-वीर्यं स्वपराक्रममविचार्य । निजशिशोः स्वसन्तानस्य । परिपालनार्थं रक्षार्थं । मृगेन्द्रं सिंहं । किन्नाभ्येति, किन्न सम्मुखीभवति ? अपि तु सम्मुखीभवतीत्यर्थः ।। ५ ।।

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियों के ईश ! (तथापि) तो भी (सः अहम्) मैं–अल्पज्ञ (विगतशक्तिः अपि सन्) शक्ति रहित होता हुआ भी (भक्तिवशात्) भक्ति के वश से (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति (कर्तुम्) करने के लिये (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूँ, (मृगः) हरिण (आत्मवीर्यम् अविचार्य) अपनी शक्ति का विचार न कर केवल (प्रीत्या) प्रेम के द्वारा (निजशिशोः) अपने बच्चे की (परिपालनार्थम्) रक्षा के लिए (किम्) क्या (मृगेन्द्रम् न अभ्येति) सिंह के सामने नहीं जाता ? अर्थात् जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह हरिण शक्ति न रहते हुए भी मात्र प्रीति से बच्चे की रक्षा के लिये सिंह का सामना करता है, उसी तरह मैं भी शक्ति न होने पर भी सिर्फ भक्ति से आपका स्तवन करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।। ५ ।।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु ।। ६ ।।

हूँ अल्पबुद्धि बुध–मानव की हँसी का,
हूँ पात्र, भक्ति तव है मुझको बुलाती ।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधू में,
है हेतु आम्र–कलिका बस एक उसका ।। ६ ।।

टीका—भो सर्वज्ञ ! त्वद्भक्तिरेव बलाप्रसह्य । मां मानतुङ्गाचार्यं । मुखरीकुरुते वाचालयतीत्यर्थः । कथंभूतं मामल्पश्रुतं शास्त्रं यस्य स तम् । पुनः कथंभूतं माम् ? श्रुतवतां पण्डितानां मध्ये । परिहासस्य धाम गृहं हासस्य भाजनं । अजहल्लिंगत्वादेवं । अन्यथा परिहासधामानं पुल्लिंगे भवति । स्वस्योत्साहतां दृष्टान्तेन द्रढयति । किल इति सत्ये । यत्कोकिलो मधौ वसन्ते । मधुरं विरौति ब्रूते । तत् चारवः मनोज्ञा या आम्रकलिका आम्रमञ्जर्यस्तासां निकरः स एव एकहेतुर्यस्य तत् ।। ६ ।।

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव (श्रुतवताम्) विद्वानों की (परिहासधाम) हँसी के स्थान स्वरूप (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः एव) आपकी भक्ति ही (बलात्) जबरन (मुखरीकुरुते) वाचाल कर रही है । (किल) निश्चय से (मधौ) वसन्तु ऋतु में (कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत्) वह (आम्रचारुकलिकानिक· रैकहेतु) आम की सुन्दर मञ्जरी के समूह के कारण ही करती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह मूर्ख कोयल वसन्त ऋतु में आम्रमञ्जरी के कारण मीठे-मीठे शब्द बोलने लगती है, उसी तरह मैं भी अल्पज्ञानी होता हुआ भी मात्र भक्ति से आपकी स्तुति कर रहा हूँ ।। ६ ।।

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ।। ७ ।।

तेरी किये स्तुति विभो बहु जन्म के भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्य के हैं ।
भौंरें समान अति श्यामल ज्यों अँधेरा,
होता विनाश रवि के करसे निशा का ।। ७ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वत्संस्तवेन कृत्वा । शरीरभाजां प्राणिनां । भवसन्ततिसन्निबद्धं नानाजन्मान्तरनिबद्धं । पापं क्षणात् क्षणमात्रेण । क्षयं

ध्वंसं। उपैति प्राप्नोति। भवानां सन्ततिः श्रेणिस्तया सन्निबद्धं। स्वस्य स्तवनमाहात्म्यं दृष्टान्तेन दृढयति। किमिव शार्वरमन्धकारमिव। यथा शार्वरं रात्रिसम्बन्धि अन्धकारं। सूर्यांशुभिर्भिन्नं। तत्तु आशु शीघ्रं अशेषं समग्रं क्षयं याति। कथंभूतमन्धकारं। आक्रान्ता पीडिता लोका येन तत्। पुनरलयो भ्रमरास्तद्वन्नीलं ।। ७ ।।

अन्वयार्थ—(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुति से (शरीर-भाजाम्) प्राणियों के (भवसन्ततिसन्निबद्धम्) अनेक भवों के बँधे हुए (पापम्) पापकर्म, (आक्रान्तलोकम्) सम्पूर्ण लोक में फैले हुए, (अलिनीलम्) भौंरों के समान काले (सूर्यांशुभिन्नम्) सूर्य की किरणों से खण्डित (शार्वरम्) रात्रि सम्बन्धी (अशेषम्) समस्त (अन्धकारम् इव) अन्धकार की तरह (क्षणात्) क्षण भर में (आशु) शीघ्र ही (क्षयम्) विनाश को (उपैति) प्राप्त हो जाते हैं ।। ७ ।।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्य की किरणों के द्वारा रात्रि का समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपके स्तोत्र से प्राणियों के जन्म-जन्म में एकत्रित हुए पाप नष्ट हो जाते हैं ।। ७ ।।

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ।। ८ ।।

यों मान की स्तुति शुरू मुझ अल्पधीने,
तेरे प्रभाव-वश नाथ वही हरेगी।
सल्लोक के हृदय को जल-बिन्दु भी तो,
मोती समान नलिनी-दलपै सुहाते ।। ८ ।।

टीका—मत्वेति मत्वा मनसेत्यवबुद्ध्य। इदं प्रसिद्धं। तव संस्तवनं प्रारभ्यते। कथंभूतेन मया तन्वी स्वल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स तेन।

तथापि तव प्रभावाद्भगवन्माहात्म्यात् । सतां सत्पुरुषाणां । चेतो हरिष्यति । ननु निश्चितं । उद्बिन्दुर्जलकणः । नलिनीदलेषु कमलिनीपत्रेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिं दीप्तिमुपैति प्राप्नोति । नलिनीनां दलानि नलिनीदलानि तेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिर्मुक्ताफलद्युतिस्ताम् ।। ८ ।।

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (इति मत्वा) ऐसा मानकर (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्दबुद्धि के द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है। जो कि (तव प्रभावात्) आपके प्रभाव से (सताम्) सज्जनों के (चेतः) चित्त को (हरिष्यति) हरेगा। (ननु) निश्चय से (उदबिन्दुः) पानी की बूँद (नलिनीदलेषु) कमलिनी के पत्तों पर (मुक्ताफलद्युतिम्) मोती जैसी कान्ति को (उपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह कमलिनी के पत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँदें मोती की तरह सुन्दर दिखकर लोगों के चित्त को हरती हैं, उसी तरह मुझ अल्पज्ञ के द्वारा हुई स्तुति भी आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को हरेगी ।। ८ ।।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः [१]कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ।। ९ ।।

दुर्दोष दूर तव हो स्तुतिका बनाना,
तेरी कथा तक हरे जगके अघों को।
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनको सरों में ।। ९ ।।

टीका—भो नाथ ! तव परमेश्वरस्य । स्तवनं दूरे आस्तां तिष्ठतु । त्वत्संकथाऽपि भागवती वार्ताऽपि । जगतां लोकानां । दुरितानि पापानि ।

---

१. सहस्रकिरणपक्षे लिङ्गं परिवर्त्य 'अस्तसमस्तदोषम्' इत्यस्य अस्ता समस्ता दोषा रात्रिर्येन तत्राभूत इत्यर्थो बोध्यः ।

हन्ति स्फुटयति । तव सम्यग्भूता कथा त्वत्संकथा । कथंभूतं स्तवनं ? अस्ता निर्गताः समस्ता दोषा यस्य तत् । सहस्रकिरणः सहस्ररश्मिः दूरे वर्तते तस्य । प्रभैव पद्माकरेषु सरसीषु । जलजानि कमलानि । विकासभांजि विकचानि कुरुते विदधातीत्यर्थः । विकासं भजन्ति तानि विकासभांजि । यस्य प्रभाया एतादृक् माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं तस्य सहस्रकिरणस्य का कथा । एवं यस्य कथायाः सकाशादेतादृक् माहात्म्यं तस्य स्तवनस्य का कथा ? भगवतः स्तवनस्य माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टम् इति भावः ।। ९ ।।

अन्वयार्थ—(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषों से रहित (तव स्तवनम्) आपका स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे, किन्तु (त्वत्संकथा अपि) आपकी पवित्र कथा भी (जगताम्) जगत् के जीवों के (दुरितानि) पापों को (हन्ति) नष्ट कर देती है । (सहस्रकिरणः) सूर्य (दूरे 'अस्ति') दूर रहता है, पर उसकी (प्रभा एव) प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालाबों में (जलजानि) कमलों को (विकासभाञ्जि) विकसित (कुरुते) कर देती है ।

भावार्थ—प्रभो ! आपके निर्दोष स्तवन में तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चा में भी जीवों के पाप नष्ट करने की सामर्थ्य है । जैसे कि सूर्य के दूर रहने पर भी उसकी उज्ज्वल किरणों में कमलों को विकसित करने की सामर्थ्य रहती है ।। ९ ।।

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।।१०।।

आश्चर्य क्या ? भुवनरत्न भले गुणों से,
तेरी किये स्तुति बने तुझसे मनुष्य ।
क्या काम है जगत में उन मालिकों का,
जो आत्मतुल्य न करे निज आश्रितों को ।। १० ।।

टीका—हे भुवनभूषण ! हे भूतनाथ ! भूतैः सद्भिर्गुणैः । भुवि पृथिव्यां । भवन्तं परमेश्वरं । अभिष्टुवन्तः पुमांसः । भवतस्तव । तुल्याः समाना भवंति । न अत्यद्भुतं महाश्चर्यं न । भुवनानां भूषणं भुवनभूषणं तस्यामन्त्रणे । भूतानां प्राणिनां नाथ । अथवा भूतानां देवानां नाथ तस्य सम्बोधने । अभिसमन्तात् स्तुवंति इत्यभिष्टुवन्तः । वा अथवा । ननु निश्चितं । यः पुमान् । इह पृथिव्यामाश्रितं जनं । भूत्या स्वसमृद्ध्या । आत्मसमं न करोति स्वतुल्यं न विदधाति । तेन स्वामिना किं कार्यं भवति ? अपि तु न भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(भुवनभूषण !) हे संसार के भूषण ! (भूत-नाथ !) हे प्राणियों के स्वामी ! (भूतैः) सच्चे (गुणैः) गुणों के द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करने वाले पुरुष (भुवि) पृथिवी पर (भवतः) आपके (तुल्याः) बराबर (भवन्ति) हो जाते हैं, ('इदम्' अत्यद्भुतम् न) यह भारी आश्चर्य की बात नहीं है, (वा) अथवा (तेन) उस स्वामी से (किम्) क्या प्रयोजन है ? (यः) जो (इह) इस लोक में (आश्रितम्) अपने आधीन पुरुष को (भूत्या) सम्पत्ति के द्वारा (आत्मसमम्) अपने बराबर (न करोति) नहीं करता ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! जिस तरह उत्तम मालिक अपने सेवक को सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्त को अपने समान शुद्ध बना लेते हैं ॥ १० ॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥

जो शान्तिके सुपरमाणु प्रभो, तनूमें,
तेरे लगे जगतमें उतने वही थे ।
सौन्दर्य-सार, जगदीश्वर चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ॥ ११ ॥

टीका—भो नाथ ! जनस्य सम्यक्त्वधारिणो लोकस्य । चक्षुर्नेत्रं । भवन्तं भगवन्तं । दृष्ट्वान्यत्र हरिहरादिषु देवेषु । तोषं प्रमोदं । न उपयाति न व्रजति । चक्षुरित्यर्थे जात्यपेक्षयैकवचनं । कथंभूतं भवन्तं ? अनिमेषेण विलोकनीयः अनिमेषविलोकनीयस्तं । कः पुमान् शशिकरद्युति दुग्धसिंधोः क्षीरसमुद्रस्य पयः पीत्वा, जलनिधेः क्षारसमुद्रस्य क्षारं जलं । रसितुमास्वादितुं । इच्छेत् वांछेत् ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(अनिमेषविलोकनीयम्) बिना पलक झपाये एकटक देखने के योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर (जनस्य) मनुष्यों के (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी जगह (तोषम्) सन्तोष को (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते । (दुग्धसिन्धोः) क्षीर समुद्र के (शशिकरद्युति) चन्द्रमा के समान कान्ति वाले (पयः) पानी को (पीत्वा) पीकर (कः) कौन पुरुष (जलनिधेः) समुद्र के (क्षारम्) खारे (जलम्) पानी को (रसितुम् इच्छेत्) स्वाद लेना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह क्षीरसमुद्र के निर्मल जल को पीने वाला मनुष्य अन्य समुद्र के खारे पानी को पीने की इच्छा नहीं करता, उसी तरह आपके सुन्दर रूप को देखने वाले मनुष्य किसी दूसरे सुन्दर पदार्थ को नहीं देखना चाहते । आप सबसे अधिक सुन्दर हैं ॥ ११ ॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

जो शान्ति के सुपरमाणु प्रभो, तनूमें,
तेरे लगे जगतमें उतने वही थे ।
सौन्दर्य-सार, जगदीश्वर चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ॥ १२ ॥

टीका—भो त्रिभुवनैकललामभूत ! यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिः कृत्वा । त्वं भवान् । निर्मापित उत्पादितः । खलु निश्चितं । तेप्यणवः पृथिव्यां तावन्त एव विद्यन्ते । कुतो हेतोः ? यद्यस्मात्कारणात् ते तव । समानं सदृशं । परं रूपं न ह्यस्ति । शान्ता उपशमं प्राप्ता रागाणां इति रागद्वेषादीनां रुचय इच्छा येषान्ते तैः । त्रिभुवनस्य मध्ये योऽद्वितीयः ललामभूतो रत्नसमानस्त्रिभुवनैकललामभूतस्तस्यामंत्रणे ।।१२।।

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत !) हे त्रिभुवनके एक आभूषण ! (त्वम्) आप (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) शान्त हो गई है रागादि दोषोंकी इच्छा जिनकी ऐसे (परमाणुभिः) परमाणुओंके द्वारा (निर्मापितः) रचे गये हैं (खलु) निश्चय से (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते अणवः अपि) वे अणु भी (तावन्तः एव 'बभूवुः') उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्) आपके समान (अपरम्) दूसरा (रूपम्) रूप (नहि) नहीं (अस्ति) है ।।१२।।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिन परमाणुओंसे आपके शरीर की रचना हुई है, मालूम होता है कि वे परमाणु उतने ही थे । यदि उससे अधिक होते तो आपके समान दूसरा रूप भी होना चाहिए था, पर दूसरा रूप है नहीं, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे । भगवन् ! आप अद्वितीय सुन्दर हैं ।।१२।।

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिंबं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ।।१३।।

तेरा कहाँ मुख, सुरादिक नेत्ररम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ !
त्यों ही कलंकित कहाँ वह चन्द्रबिम्ब !
जो हो पड़े दिवसमें द्युतिहीन फीका ।। १३ ।।

टीका—भो नाथ ! द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः । ते तव परमेश्वरस्य वक्त्रं क्व ? इदं प्रसिद्धं निशाकरस्य चन्द्रबिम्बं क्व ? कथंभूतं वक्त्रं ? सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगास्तेषां नेत्राणि हरतीति सुरनरोरगनेत्रहारि । पुनः निःशेषाणि समग्राणि निर्जितानि जगतां त्रितयस्य उपमानानि येन तत् । कथंभूतं चन्द्रबिम्बं । कलंकेन मलिनं यच्चंद्रबिम्बं । वासरे दिवसे । पाण्डुपलाशकल्पं भवति । पलाशस्य पत्रं पलाशं । पाण्डु च तत्पलाशं च पाण्डुपलाशं पाण्डुपलाशादिषन्नूनं पाण्डुपलाशकल्पम् ।।१३।।

अन्वयार्थ—(सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य, तथा धरणेन्द्र के नेत्रोंको हरण करनेवाला एवं (निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्) सम्पूर्ण रूपसे जीत लिया है तीनों जगत्की उपमाओं को जिसने ऐसा (ते वक्त्रम्) आपका मुख (क्व) कहाँ ? और (कलंकमलिनम्) कलंक से मलीन (निशाकरस्य) चन्द्रमा का ('तद्' बिम्बम्) वह मण्डल (क्व) कहाँ ? (यत्) जो (वासरे) दिनमें (पलाशकल्पम्) ढाक के पत्ते की तरह (पाण्डु) फीका (भवति) हो जाता है ।।१३।।

भावार्थ—नाथ ! जो लोग आपके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं, वे गलती करते हैं । क्योंकि आपके मुख की शोभा कभी नष्ट नहीं होती और चन्द्रमा की शोभा दिनमें नष्ट हो जाती है, इसके अतिरिक्त वह कलंकी है, और आपका मुख कलंक रहित है ।।१३।।

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रिताखिजगदीश्वरनाथमेकं
कस्तान्निवारयति सञ्चरतो यथेष्टम् ।।१४।।

अत्यन्त सुन्दर कलानिधिकी कलासे,
तेरे मनोज्ञ गुणनाथ फिरें जगों में ।
है आसरा त्रिजगदीश्वरका जिन्होंको,
रोके उन्हें त्रिजग में फिरते न कोई ।। १४ ।।

टीका—भो परमेश्वर ! तव परमेश्वरस्य गुणास्त्रिभुवनं लंघयन्ति । ये गुणा एकं त्रिजगदीश्वरनाथमिन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिस्वामिनं । संश्रिताः आश्रिताः । कः पुमान् तान् गुणान् यथेष्टं संचरतो निवारयति निवारयितुं शक्तो भवति । त्रयाणां जगतामीश्वरास्तेषां नाथस्तं । कथंभूता गुणाः । सम्पूर्णं मण्डलं यस्य स एवंविधश्चासौ शशांकश्च सम्पूर्णमण्डलशशांकस्तस्य कलास्तासां कलापः समूहस्तद्वत् शुभ्रा उज्ज्वला इत्यर्थः ।।१४।।

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप शुभ्रा) पूर्णचन्द्र-बिम्बकी कलाओं के समूह के समान स्वच्छ (तव) आपके (गुणा) गुण (त्रिभुवनम्) तीन लोकों को (लंघयन्ति) लाँघ रहे हैं—सब जगह फैले हुए हैं सो ठीक ही है, क्योंकि (ये) जो (एकम्) मुख्य (त्रिजगदीश्वरनाथम्) तीनों लोकों के नाथों के नाथ के (संश्रिताः) आश्रित हैं, (तान्) उन्हें (यथेष्टम्) इच्छानुसार (सञ्चरतः 'सतः') घूमते हुए (कः) कौन (निवारयति) रोकता है ? कोई नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी राजाधिराज के आश्रित रहने वाले पुरुष को इच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमते रहते कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार आपके आश्रित रहने वाले कीर्ति आदि गुणों को तीनों लोकों में कोई नहीं रोक सकता । आपके गुण सब जगह फैले हुए हैं ।।१४।।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ।।१५।।

देवाङ्गना हर सकीं मनको न तेरे,
आश्चर्य नाथ ! उसमें कुछ भी नहीं है ।
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ? ।। १५ ।।

टीका—भो परमेश्वर ! यदि चेत् । त्रिदशांगनाभिर्देवाप्सरोभिः ।

ते तव भगवतो मनः । मनागपि किंचिदपि । विकारमार्गं न नीतं प्रापितं । तर्हि अत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं ? त्रिदशानां देवानामंगनास्त्रिदशांगनास्ताभिः । कुतः कारणात् ? कल्पान्तकालमरुता प्रलयकालवायुना । किं मन्दराद्रिशिखरं मेरुशृङ्गं । कदाचित् चलितं कंपितं । अपि तु न कंपितमित्यर्थः । कल्पान्तकालस्य मरुत कल्पान्तकालमरुतेन । मन्दराद्रेः शिखरं मन्दराद्रिशिखरं । कथंभूतेन कल्पान्तकालमरुता ? चलिता विधुता अचलाः पर्वता येन स तेन ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (ते) आपका (मनः) मन (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवाङ्गनाओं के द्वारा (मनाक् अपि) थोड़े भी (विकारमार्गम्) विकारभावको (न नीतम्) प्राप्त नहीं कराया जा सका है, (तर्हि) तो (अत्र) इस विषय में (चित्रम् किम्) आश्चर्य ही क्या है ? (चलिताचलेन) पहाड़ों को हिला देने वाली (कल्पांतकालमरुता) प्रलयकालकी पवन के द्वारा (किम्) क्या (कदाचित्) कभी (मन्दराद्रिशिखरं) मेरुपर्वतका शिखर (चलितम्) हिलाया गया है ? अर्थात् नहीं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह प्रलयकालकी प्रचण्ड पवन के द्वारा मेरु पर्वत नहीं हिलाया जा सकता, उसी तरह देवाङ्गनाओं के हाव-भावों के द्वारा आपका मन सुमेरु भी नहीं हिलाया जा सकता । आपका धैर्य अतुल है और आपने मनको अपने वश में कर लिया है ॥१५॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

बत्ती नहीं नहिं धुवाँ नहिं तैलपूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है ।
सारे त्रिलोक बिच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो द्युतिकारि तू है ॥ १६ ॥

टीका—भो नाथ ! त्वं जगन्मण्डलेऽपूर्व अपरः कश्चन दीपः। असि वर्तसे। कुतो हेतोः ? यत् इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं युगपत्प्रकटीकरोषि उद्योतयसीत्यर्थः। कथंभूतस्तवलक्षणो दीपः ? धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्तौ धूमवर्तिभ्यां निष्क्रान्तो निर्धूमवर्तिः। पुनः कथंभूतः ? अपवर्जितो निराकृतस्तैलपूरो येन सः। पुनः कथंभूतः ? जातु कदाचिन्मरुतां गम्यो न मरुता न दनीध्वस्यसे इत्यर्थः। कथंभूतानां मरुतां ? चलिता अचला अद्रयो यैस्तेषां। पुनः कथंभूता ? जगति त्रिभुवने प्रकाशो यस्य स दीपः सधूमवर्तिः पुनर्युक्ततैलपूरः। पुनः कथंभूतः ? एकं गृहं प्रकटीकरोति स मरुतां वायूनां गम्यः स तु गृहप्रकाशकः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! आप (निर्धूमवर्तिः) धुआँ तथा बत्तीसे रहित निर्दोष प्रवृत्ति वाले और (अपवर्जिततैलपूरः) तैलसे शून्य (भूत्वा अपि) होकर भी (इदम्) इस (कृत्स्नम्) समस्त (जगत्त्रयम्) त्रिभुवन को (प्रकटीकरोषि) प्रकाशित कर रहे हो तथा (चलिताचलानाम्) पहाड़ों को हिला देने वाली (मरुताम्) वायु के भी (जातु) कभी (गम्यः न) गम्य नहीं हो—वायु बुझा नहीं सकती। इस तरह (त्वम्) आप (जगत्प्रकाशः) संसार को प्रकाशित करने वाले (अपरः दीपः) अपूर्व दीपक (असि) हो।

भावार्थ—हे नाथ ! आप समस्त संसार को प्रकाशित करने वाले अनोखे दीपक हैं, क्योंकि अन्य दीपकों की बत्ती से धुवाँ निकलता रहता है, पर आपकी वर्ति-मार्ग निर्धूम-पाप रहित है। अन्य दीपक तेल की सहायता से प्रकाश फैलाते हैं, पर आप बिना किसी सहायता के ही प्रकाश-ज्ञान फैलाते हैं। अन्य दीपक हवा से नष्ट हो जाते हैं, पर आप अविनाशी हैं। तथा अन्य दीपक थोड़ी-सी जगह को प्रकाशित करते हैं, पर आप समस्त लोक को प्रकाशित करते हैं ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्य:
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभाव:
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र ! लोके ।।१७।।

तू हो न अस्त, तुझको गहता न राहू,
पाते प्रकाश तुझसे जग एकसाथ ।
तेरा प्रभाव रुकता नहिं बादलों से,
तू सूर्यसे अधिक है महिमा-निधान ।।१७।।

टीका—भो मुनीन्द्र ! मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामिंद्रस्तस्यामंत्रणे । लोके पृथिव्यां । त्वं सूर्यातिशायिमहिमा कदाचिदस्तं नोपयासि स सूर्य: अस्तमुपयामि । त्वं राहुगम्यो नासि स तु राहुगम्य: । त्वं सहसा वेगेन । युगपत्सहैव । जगन्ति त्रैलोक्यं स्पष्टीकरोषि उद्योतयसि । त्वमम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावो नांभोधरैर्मेघैरुदरमध्ये निरुद्धो महाप्रभावो यस्य स: । स तु अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभाव: ।।१७।।

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र !) (हे मुनियों के इन्द्र !) (त्वम्) तुम (कदाचित्) कभी (न अस्तम् उपयासि) न अस्त होते हो (न राहुगम्य:) न राहु के द्वारा ग्रसे जाते हो और (न अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभाव:) न मेघ के मध्य में छिप गया है महान् तेज जिसका ऐसे भी हो तथा (युगपत्) एक साथ (जगन्ति) तीनों लोकों को (सहसा) शीघ्र ही (स्पष्टीकरोषि) प्रकाशित करते हो, (इति) इस तरह आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्य से अधिक महिमा वाले हो ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक है । क्योंकि सूर्य सन्ध्या के समय अस्त हो जाता है, पर आप कभी अस्त नहीं होते । सूर्य को राहु ग्रस लेता है, पर आपको वह आज तक भी नहीं ग्रस सका है । सूर्य दिन में क्रम-क्रम से सिर्फ मध्य लोकको प्रकाशित करता है, पर आप एकसाथ समस्त लोक को

प्रकाशित करते हैं, और सूर्य के तेज को मेघ रोक लेते हैं, पर आपके ज्ञान-तेज को कोई नहीं रोक सकता ।।१७।।

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ।।१८।।

मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु-मुख में, न छुपे घनों से ।
अच्छे प्रकाशित करे, जग को सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ ! मुखेन्दु तेरा ।। १८ ।।

टीका—भो जगदीश्वर ! तव भगवतो । मुखाम्बुजं वक्त्रकमलं । अपूर्वशशांकबिम्बं किंचिन्नवचन्द्रमण्डलं । विभ्राजते शोभते । भ्राजं-दीप्तावित्यस्य धातोः प्रयोगः । कथंभूतं तव मुखाब्जं ? नित्यमजस्रमुदयो यस्य तत् । न तु कदाचिदुदयम् । पुनर्दलितं स्फेटितं मोहलक्षणं महा-न्धकारं येन तत् । पुनः राहुवदनस्य गम्यं न । पुनः वारिदानां मेघानां न गम्यं । पुनरनल्पा प्रबला कांतिः रुक् यस्य तत् । पुनर्जगत्त्रैलोक्यं विद्योतयत् अपूर्वमेव शशांकबिम्बपूर्वशशांकबिम्बम् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(नित्योदयम्) हमेशा उदय रहने वाला (दलितमोहमहान्धकारम्) मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला (राहुवदनस्य न गम्यम्) राहु के मुख के द्वारा ग्रसे जाने के अयोग्य (वारिदानां न गम्यम्) मेघों के द्वारा छिपाने के अयोग्य (अनल्पकान्ति) अधिक कान्ति वाला और (जगत्) संसार को (विद्योतयत्) प्रकाशित करने वाला (तव) आपका (मुखाब्जम्) मुखीरूपी कमल (अपूर्वशशाङ्कबिम्बम्) अपूर्व चन्द्रमण्डल (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका मुखकमल अपूर्व चन्द्रमा है, क्योंकि यह चन्द्रमा दिन में अस्त हो जाता है, पर आपका

मुख-चन्द्र हमेशा उदित रहता है। चन्द्रमा सिर्फ अन्धकार को नष्ट करता है, पर आपका चन्द्रमुख मोहरूपी अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। चन्द्रमा राहु के द्वारा ग्रसा जाता है, पर आपके मुखचन्द्र को राहु नहीं ग्रस सकता। चन्द्रमा को बादल छिपा लेते हैं, पर आपके मुखचन्द्र को बादल नहीं छिपा सकते। चन्द्रमा की कान्ति कृष्ण पक्ष में घट जाती है, पर आपके मुखचन्द्र की कान्ति हमेशा बढ़ती ही रहती है, और चन्द्रमा सिर्फ मध्यलोक को प्रकाशित करता है, पर आपका मुखचन्द्र तीनों लोकों को प्रकाशित करता है ॥१८॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ! ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

क्या भानु से दिवस में निशि में शशी से,
तेरे प्रभो ! सुमुख से तम नाश होते।
अच्छी तरह पक गया जग बीच धान,
है काम क्या जल भरे इन बादलों से ॥१९॥

टीका—भो नाथ ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु भवन्मुखचन्द्रस्फेटितेषु। तमस्सु अन्धकारेषु। शर्वरीषु रात्रिषु। शशिना चन्द्रेण किं कार्यं ? वा अथवा। अह्नि दिवसे। विवस्वता सूर्येण किं कार्यं ? युष्मत्तव मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तेन दलितानि तेषु। जीवलोके पृथिव्यां। निष्पन्नशालिवनशालिनि सति जलभारनम्रैर्जलधरैर्मेघैः कियत्कार्यं किं प्रयोजनं ? निष्पन्नानि च तानि शालीनां वनानि च निष्पन्नशालिवनानि तैः शालते शोभत इति निष्पन्नशालिवनशालि तस्मिन् निष्पन्नशालिवनशालिनि। जलभारेण नम्रा जलभारनम्रास्तैः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (तमःसु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु 'सत्सु') अन्धकार के, आपके मुखचन्द्रमा के द्वारा नष्ट हो

जाने पर (शर्वरीषु) रात में (शशिना) चन्द्रमा से (वा) अथवा (अह्नि) दिन में (विवस्वता) सूर्य से (किम्) क्या प्रयोजन है ? (निष्पन्नशालिवनशालिनि) पैदा हुई धान्य के वनों से शोभामान (जीवलोके) संसार में (जलभारनम्रैः) पानी के भार से झुके हुए (जलधरैः) मेघों से (कियत्) कितना (कार्यम्) काम रह जाता है ?

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह संसार में धान्य के पक जाने पर बादलों से कोई लाभ नहीं होता, उसी तरह आपके मुख-चन्द्र के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाने पर दिन में सूर्य से और रात में चन्द्रमा से कोई लाभ नहीं है ।।१९।।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजो महामणिषु[1] याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ।। २० ।।

जो ज्ञान निर्मल विभो तुझमें सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर-देवता में ।
होती मनोहर छटा मणि मध्य जो है,
सो काच में नहिं, पड़े रविबिम्बके भी ।। २० ।।

टीका—भो देव ! यथा त्वयि विषये ज्ञानं कैवल्यं कृतावकाशं विभाति शोभते । तथा हरिहरादिषु नायकेषु ब्रह्माविष्णुमहेशेषु । एवं ज्ञानं कृतावकाश नास्ति । कृतोऽवकाशः स्थानं यस्य तत् । हरिहरा आदिर्येषां ते हरिहरादयस्तेषु । यथा तेजो जात्येषु महामणिषु महत्त्वं याति प्राप्नोति । तथा तु पुनः किरणाकुलेऽपि काचशकले एवं तेजो महत्त्वं न याति । महान्तश्च ते मणयश्च काचस्य शकलं काचशकलं तस्मिन् । किरणैशुक्लं व्याप्तं तस्मिन् । भो देव ! यत्त्वयि विषये ज्ञानं । विभ्राजते शोभते । तज्ज्ञानं हरिहरादिषु देवेषु नास्ति । यदि चेदेवं ज्ञानं स्यात् तदा परिभ्रमणं कथं कुर्वन्तीत तात्पर्यार्थः ।।२०।।

---

१. तेजः स्फुरन्मणिषु इत्यपि पाठः ।

अन्वयार्थ—(कृतावकाशम्) अवकाश को प्राप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (यथा) जिस तरह (त्वयि) आप में (विभाति) शोभायमान होता है (एवं तथा) उस तरह (हरिहरादिषु) विष्णु, शङ्कर आदि (नायकेषु) देवों में (न 'विभाति') शोभायमान् नहीं होता, (तेजः) तेज (महामणिषु) महा मणियों में (यथा) जैसे (महत्वम्) महत्व को (याति) प्राप्त होता है, (तु) निश्चय से (एवं 'तथा') वैसे महत्व को (किरणाकुले अपि) किरणों से व्याप्त भी (काचशकले) काँच के टुकड़े में (न 'याति') नहीं प्राप्त होता ।।२०।।

भावार्थ—हे विभो ! लोक-अलोक को जानने वाला निर्मल ज्ञान जिस तरह आप में शोभा को प्राप्त होता है उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवों में नहीं होता । कि तेज की शोभा महामणि में ही होती है, न काँच के टुकड़े में भी ।।२०।।

मन्ये वरं हरिहरादय एवं दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ।। २१ ।।

देखे भले अयि विभो ! पर देवता ही,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझमें रमे ये ।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो ! जो,
कोई रमे न मन में पर जन्म में भी ।। २१ ।।

टीका—नाथ ! अहमेवम्मन्ये हरिहरादय एव देवा । वरं दृष्टा समीचीनं विलोकिताः । कुतश्चेत्तेषु दृष्टेषु सत्सु हृदयं ममान्तःकरणं । त्वयि भगवति विषये । तोषं प्रमोदं । एति प्राप्नोतीत्यर्थः । भो देव ! भवता श्रीतीर्थंकरपरमदेवेन । वीक्षितेन किं भवति ? एतदेव भवति । येन कारणेनान्यः कश्चिद्देवः । भुवि पृथिव्यां । भवान्तरेऽपि परजन्मन्यपि । मनो न हरति अन्तःकरणं न विकलीकरोति ।।२१।।

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (मन्ये) मैं मानता हूँ कि (दृष्टाः) देखे गये (हरिहरादयः एव) विष्णु, महादेव आदि देव ही (वरम्) अच्छे हैं, (येषु दृष्टेषु सत्सु) जिनके देखे जाने पर (हृदयम्) मन (त्वयि) आपके विषय में (तोषम्) संतोष को (एति) प्राप्त हो जाता है, (वीक्षितेन) देखे गये (भवता) आपसे (किम्) क्या लाभ है ? (येन) जिसके कि (भुवि) पृथिवी पर (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा देव (भवान्तरे अपि) जन्मान्तर में भी (मनः) चित्त को (न हरति) नहीं हर पाता ।

भावार्थ—इस श्लोक में व्याजोक्ति अलंकार से विपरीत कथन किया गया है । श्लोक का अविरुद्ध अर्थ यह है कि प्रभो ! संसार में आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं । आपके दर्शन से चित्त को इतना सन्तोष होता है, कि वह मरने के बाद भी किसी दूसरे देव के दर्शन नहीं करना चाहता । हरिहर आदि देव रागी द्वेषी हैं, उनके दर्शन से चित्त सन्तुष्ट नहीं होता । इसीलिये वह आप जैसे देवों के दर्शनों की इच्छा रखता है ।।२१।।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ।।२२।।

मायें अनेक जनतीं जगमें सुतों को,
हैं किन्तु वे न तुझसे सुत की प्रसूता ।
सारी दिशा धर रही रविका उजेला,
पै एक पूरब दिशा रवि को उगाती ।।२२।।

टीका—भो परमेश्वर भो देवाधिदेव ! स्त्रीणां शतानि नाना स्त्रियः । शतशोऽनेकशः पुत्राञ्जनयन्ति । पुनरन्या काचन जननी त्वदुपम् भवत्तुल्यं सुतं । न प्रसूता न जनिता । त्वयोपमीयतेः सौ त्वदुपमस्तं । सर्वा एव दिशः । भानि नक्षत्राणि । दधति धरन्ति । प्राच्येव पूर्वदिगेव ।

स्फुरदंशुजालं सहस्ररश्मिं सूर्यं जनयति उत्पादयति। स्फुरन्ति दीप्यमानानि अंशुजालानि यस्य सः स्फुरदंशुजालस्तं। परं त्वदुपमां नैतीति तात्पर्यम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्त्रीणाम् शतानि) स्त्रियों के शतक—सैकड़ों स्त्रियाँ (शतशः) सैकड़ों (पुत्रान्) पुत्रों को (जनयन्ति) पैदा करती हैं, परन्तु (त्वदुपम्) आप जैसे (सुतम्) पुत्र को (अन्या) दूसरी (जननी) माँ (न प्रसूता) पैदा नहीं कर सकी (भानि) नक्षत्रों को (सर्वा दिशः) सब दिशाएँ (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरदंशुजालम्) चमक रहा है किरणों का समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मिम्) सूर्य को (प्राची दिक् एव) पूर्व दिशा ही (जनयति) प्रकट करती है।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्य को पूर्व दिशा के सिवाय अन्य दिशाएँ प्रकट नहीं कर पातीं, उसी प्रकार आपको आपकी माता के सिवाय अन्य मातायें पैदा नहीं कर सकीं। आप भाग्यशालिनी माता के अद्वितीय भाग्यशाली पुत्र हैं ॥२२॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्रपंथाः ॥ २३ ॥

योगी तुझे परम-पुरूष हैं बताते,
आदित्यवर्ण मलहान तमिस्रहारो।
पाके तुझे जय करें सब मौत को भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्षमार्ग ॥ २३ ॥

टीका—भो भगवन्, भो देव ! मुनयः योगीश्वराः। त्वां परमं पुमांसं सर्वोत्कृष्टपुरुषं। आमनन्ति अंगीकुर्वन्ति इत्यर्थः। भो नाथ ! मुनयस्त्वाम् तमसोऽन्धकारस्य पुरस्तात्। अमलं भासमानमादित्यवर्णं सूर्यमामनन्ति। भो मुनीन्द्र मुनयस्त्वामेव भगवन्तं सम्यगुपलभ्य

परिप्राप्य मृत्युं जयन्ति । शिवपदस्य शिवस्थानस्यान्यः पन्था मार्गः शिवः कल्याणकारी न स्यात् ।।२३।।

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र !) हे मुनियों के नाथ ! (मुनयः) तपस्वीजन ! (त्वाम्) आपको (आदित्यवर्णम्) सूर्य की तरह तेजस्वी (अमलम्) निर्मल और (तमसः पुरस्तात्) मोह-अन्धकार से परे रहने वाले (परमं पुमांसम्) परम पुरुष (आमनन्ति) मानते हैं । वे (त्वाम् एव) आपको ही (सम्यक्) अच्छी तरह से (उपलभ्य) प्राप्त कर (मृत्युम्) मृत्यु को (जयति) जीतते हैं, 'इसके सिवाय' (शिवपदस्य) मोक्षपद का (अन्यः) दूसरा (शिवः) अच्छा (पन्थाः) रास्ता (न 'अस्ति') नहीं है ।

भावार्थ—सांख्य मतवाले कमलपत्र की तरह निर्लेप, शुद्ध ज्ञानरूप पुरुष को मानते हैं, और अन्त में प्रकृतिजन्य विकारों को छोड़कर पुरुष की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं । आचार्य मानतुंग ने अपनी व्यापक दृष्टि से भगवान् के लिये ही परम् पुरुष बतलाया है, और साथ में यह भी कहा है कि आपको अच्छी तरह (प्राप्त कर) जानकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । जो आपसे दूर रहते हैं, उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ।।२३।।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।।२४।।

योगीश, अव्यय, अचिंत्य, अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा, असंख्य, परमेश्वर, एक नाना ।
ज्ञानस्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
त्यों आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त ।। २४ ।।

टीका—भो नाथ ! सन्तः सत्पुरुषाः । त्वां एवंविध वदंति

कथयन्तीत्यर्थः । कथंभूतं त्वां ? विभुं ज्ञानस्वरूपेण व्यापकमित्यर्थः । पुनरचिन्त्यं अनेकातिशयैः कृत्वा चिन्तयितुं न शक्यमित्यर्थः । पुनरसंख्यं असंख्यातगुणैः कृत्वा संख्यारहितमित्यर्थः । पुनराद्यं एतदेवावसर्पिणी-कालसम्बन्धिचतुर्विंशतितीर्थंकराणां मध्ये प्रथममित्यर्थः । पुनः कथं-भूतं ? ब्रह्माणं परब्रह्मास्वरूपाढ्यमित्यर्थः । पुनः कथं ? ईश्वरमष्टप्राति-हार्यादिसमवसरणर्द्धिविराजमानत्वात् । पुनः कथं ? अनन्तमनन्तदर्शन-ज्ञानसुखवीर्याणामानन्त्यात् । पुनः कथं ? अनंगकेतुं[1] कामप्रज्वलने केतुर्धूमकेतुः कन्दर्पस्य दहनत्वात् । पुनः कथं ? योगीश्वरं योगिनां कैवल्यादिमुनीनामीश्वरस्तं तीर्थकरत्वात् । पुनः कथं विदितयोगं विदिता ज्ञाता योगा ध्यानानि रत्नत्रयस्वरूपव्यापारा येन स तं । पुनः कथं ? अनेकं अनेकानन्ततीर्थंकर नामत्वात् । पुनः कथं ? एकं त्रैलोक्यमध्ये एकोऽद्वितीयः तं सर्वोत्तमज्ञानस्वरूपमयत्वात् ज्ञानस्वरूपं त्वां भणंति । पुनः कथं ? अमलं मलरहितमष्टकर्म विनाशकत्वात् ।।२४।।

अन्वयार्थ—(सन्तः) सज्जन पुरुष (त्वाम्) आपको (अव्ययम्) अव्यय (विभुम्) विभु (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (असंख्यम्) असंख्य (आद्यम्) आद्य (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (ईश्वरम्) ईश्वर (अनन्तम्) अनन्त (अनंगकेतुम्) अनंगकेतु (योगीश्वरम्) योगीश्वर (विदितयोगम्) विदितयोग (अनेकम्) अनेक (एकम्) एक (ज्ञानस्वरूपम्) ज्ञानस्वरूप और (अमलम्) अमल (प्रवदन्ति) कहते हैं ।

भावार्थ—भगवन् ! आपकी आत्मा का कभी नाश नहीं होता, इसलिये सत्पुरुष आपको 'अव्यय'–अविनाशी कहते हैं । आपका ज्ञान तीनों लोकों में फैला हुआ है इसलिये आपको 'विभु'–व्यापक कहते हैं । आपके स्वरूप का कोई चिन्तवन नहीं कर सकता, इसलिये आपको 'अचिन्त्य'–चिन्तवन के अयोग्य

१. पूर्वपदलोपे केतु पदेन धूमकेतुरग्निर्गृह्यते अथवा—अनङ्गाय केतुरिव इत्यनङ्गकेतुः कामविनाशसूचकः केतुग्रहविशेष इत्यर्थः ।

कहते हैं। आपके गुणों की संख्या नहीं है, इसलिये आपको 'असंख्य'—गणना रहित कहते हैं। आप युग के आदि में हुए, अथवा चौबीस तीर्थंकरों में आदि हैं, इसलिये आपको 'आद्य'—प्रथम कहते हैं। आप सब कर्मों से रहित हैं, अथवा अनन्त गुणों से बढ़े हुए है, इसीलिये आपको 'ब्रह्मा' कहते हैं। आप कृतकृत्य हैं, इसीलिये आपको 'ईश्वर' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा अन्त रहित हैं, इसीलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं। आप काम को नष्ट करने के लिये अग्नि की तरह हैं, इसीलिये आपको 'अनंगकेतु' कहते हैं। आप मुनियों-योगियों के स्वामी हैं, इसलिये आपको 'योगीश्वर' कहते हैं। आप योग-ध्यान वगैरह को जानने वाले हैं, इसलिये आपको 'विदितयोग' कहते हैं। आप पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप हैं, इसलिये आपको 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा एक हैं, इसलिये आपको 'एक' कहते हैं। आप केवल ज्ञानरूप हैं, इसलिये आपको 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं, तथा आप कर्ममल से रहित हैं, इसलिये आपको 'अमल' कहते हैं ।।२४।।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ।।२५।।

तू बुद्ध है विबुधपूजित-बुद्धिवाला,
कल्याण-कर्तृवर शंकर भी तुही है।
तू मोक्षमार्ग विधि-कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ पुरुषोत्तम भी तुही है // २५ //

टीका—भो भगवन् ! त्वमेव बुद्धोऽसि बुद्धदेवोऽसीत्यर्थः। कुतः ? विबुधार्चितबुद्धिबोधात्। विबुधैर्देवैरर्चितः पूजितः। बुद्धेर्बोधः प्रतिबोधो यस्य स तस्मात्। भो नाथ ! त्वं शङ्करोऽसि। त्वमेव

शङ्करदेवोऽसीत्यर्थः । कस्मात् भुवनत्रयाणां शं सुखं करोतीति भुवनत्रयशंकरस्तस्य भावस्तस्मात्। हे धीर ! त्वमेव धाताऽसि । कस्मात् . शिवस्य मोक्षस्य मार्गः पन्थास्तस्य विधिः आचारस्तस्य विधानात् करणत्वात् । भो भगवन् ! व्यक्तम् स्पष्टम् यथा स्यात्तथा त्वमेव पुरुषोत्तमोऽसि । त्रिषष्टिपुरुषाणां मध्ये उत्तमः पुरुषोत्तमस्तीर्थंकरः साक्षान्मोक्षांगत्वात् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) देव अथवा विद्वानों के द्वारा पूजित बुद्धि-ज्ञान वाले होने से (त्वम् एव) आप ही (बुद्धः) बुद्ध हैं । (भुवनत्रयशङ्करत्वात्) तीनों लोकों में शान्ति करने के कारण (त्वम् एव) आप ही (शङ्करः असि) शङ्कर हैं । (धीर) हे धीर ! (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्ग की विधि के (विधानात्) करने से (त्वम् एव) आप ही (धाता) ब्रह्मा है, और (भगवन्) हे स्वामिन ! (त्वम् एव) आप ही (व्यक्तम्) स्पष्ट रूप से (पुरुषोत्तमः असि) मनुष्यों में उत्तम अथवा नारायण हैं ।

भावार्थ—संसार में बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा और नारायण नाम से प्रसिद्ध अन्य देव हैं । आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! केवलज्ञानसहित होने के कारण आप ही सच्चे 'बुद्ध' हैं । किन्तु जो सर्वथा क्षणिकवादी अथवा केवलज्ञान से रहित हैं, वह बुद्ध नहीं कहला सकते । तीनों लोकों के सुख या शांति के करने से आप ही सच्चे 'शङ्कर' हैं । जो संसार का संहार करने वाले हैं और काम से पीड़ित होकर पार्वती को हमेशा साथ रखते हैं, वह शंकर नहीं हो सकते । आपने ही रत्नत्रयरूप धर्म का उपदेश देकर मोक्षमार्ग की सृष्टि की है । इसलिये आप ही सच्चे 'ब्रह्मा' हैं । जो हिंसक वेदों का उपदेश देते और तिलोत्तमा के मोह में फँस तप से भ्रष्ट हुए, वह ब्रह्मा नहीं कहे जा सकते । इसी तरह पुरुषोत्तम-कृष्णनारायण भी तुम्हीं हो, क्योंकि आप सब पुरुषों में उत्तम-श्रेष्ठ हो ॥२५॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ।।२६।।

त्रैलोक्य-आर्तिहरनाथ तुझे नमूँ मैं,
हे भूमि के विमल रत्न ! तुझे नमूँ मैं ।
हे ईश ! सर्व जगके तुझको नमूँ मैं,
मेरे भवोदधि-विनाशि तुझे नमूँ मैं ।। २६ ।।

टीका—भो नाथ ! तुभ्यं भगवते नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? त्रिभुवनस्यार्ति दुःखं हरतीति त्रिभुवनार्तिहरस्तस्मै । भो देव ! तुभ्यं नमः । कथं भूताय तुभ्यं ? क्षितितलेऽमलभूषणं क्षितितलामल भूषणं तस्मै । भो जिन ! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ! त्रिजगतश्चाधोमध्योर्ध्वलोकस्य । परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरस्तस्मै । भो जिन ! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? भवलक्षणो य उदधिः समुद्रस्तं शोषयतीति भवोदधिशोषणस्तस्मै ।।२६।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (त्रिभुवनार्तिहराय) तीनों लोकों के दुःखों को हरने वाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (क्षितितलामलभूषणाय) पृथिवीतल के निर्मल आभूषणस्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (त्रिजगतः) तीनों जगत् के (परमेश्वराय) परमेश्वरस्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, और (जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (भवोदधिशोषणाय) संसार-समुद्र के सुखाने वाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीनों लोकों की विपत्तियाँ हरने वाले हो, महीतल के निर्मल आभूषण हो, त्रिभुवन के स्वामी हो और संसार-समुद्र के शोषक हो, इसलिये आपको नमस्कार हो ।।२६।।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैं,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ।। २७।।

आश्चर्य क्या गुण सभी तुझमें समाये,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगा ही।
देखा न नाथ ! मुख भी तव स्वप्न में भी,
पा आसरा जगत का सब दोषने जो ।। २७ ।।

टीका—मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीशः। तस्यामंत्रणे। भो मुनीश ! अत्र जगन्मण्डले। को विस्मयः किमाश्चर्यम्। यदि चेत् नामेति सत्ये। अशेषैः समग्रैर्गुणैः। निरवकाशतया अनवकाशतया अवकाशरहितत्वेन। त्वं भगवान् संश्रितः। अवकाशान्निष्कान्तो निरवकाशस्तस्य भावस्तत्ता तया। भो नाथ ! दोषैरष्टादशदोषैः। स्वप्नान्तरेऽपि स्वप्नमध्येऽपि। त्वं कदाचिदपि नेक्षितोऽसि न दृष्टोऽसि। अत्रापि को विस्मयः ? कथंभूतैर्दोषैः ? उपात्ताः आदृताश्च ते विविधा अनेकाश्रयाश्च तैः कृत्वा जाता उत्पन्नो गर्वोऽभिमानो येषां ते तैः ।।२७।।

अन्वयार्थ—(मुनीश !) हे मुनियों के स्वामी ! (यदि नाम) यदि (निरवकाशतया) अन्य जगह स्थान न मिलने के कारण (त्वम्) आप (अशेषैः) समस्त (गुणैः) गुणों के द्वारा (संश्रितः) आश्रित हुए हो और (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त हुए अनेक आधार से उत्पन्न हुआ है, अहंकार जिनको ऐसे (दोषैः) दोषों के द्वारा (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्न के मध्य में भी (कदाचित् अपि) कभी भी (न ईक्षितः असि) नहीं देखे गये हो (तर्हि) तो (अत्र) इस विषय में (कः विस्मयः) क्या आश्चर्य है ? कुछ नहीं।

भावार्थ—गुणों को संसार में अन्य स्थान नहीं मिला, इसलिये वे विवश हो आपकी शरण में आ गये। परन्तु दोषों को

अन्य स्थान की कमी नहीं थी, इसलिये वे स्वप्न में भी आपके पास नहीं आये। व्यवहार में भी देखा जाता है, कि जिसका अन्यत्र सम्मान नहीं होता है, वह विवश हो किसी एक के पास ही रहता है, पर जिसका हर जगह सम्मान होता है, वह किसी एक के आश्रित नहीं रहता। श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि आप गुणवान् हैं, आपमें दोष बिल्कुल ही नहीं हैं ।।२७।।

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ।।२८।।

नीचे अशोक तरु के तन है सुहाता,
तेरा विभो! विमलरूप प्रकाशकर्ता।
फैली हुई किरण का तमका विनाशी,
मानो समीप घन के रवि-बिम्ब ही है ।। २८ ।।

टीका—भो नाथ! भगवतस्तव परमेश्वरस्य। अमलं रूपं जगन्मोहनसौन्दर्यं। उच्चैरशोकतरुसंश्रितं प्रथमप्रातिहार्याशोकवृक्षाश्रितं। स तु नितान्तं निरन्तरमाभाति राजतीत्यर्थः। उच्चैश्चासावशोकतरुश्चोच्चैरशोकतरुस्तं संश्रितं रूपं! कथंभूतं रूपं? उन्मयूखं उत ऊर्ध्वं निःसरन्तो मयूखाः किरणा यस्मात्तत्। कस्य किमिव रवेर्बिम्बमिव। यथा रवेः सूर्यस्य बिम्बं पयोधरपार्श्ववर्ति। कथं? रवेर्बिम्बं स्पष्टं प्रकटं यथा स्यात्तथा। उल्लसन्तः विस्फुरन्तः किरणा यस्य तत्। पुनः कथं? अस्तं निराकृतं तमसां पापानां वितानं समूहो येन तत्।।२८।।

अन्वयार्थ—(उच्चैरशोकतरुसंश्रितम्) ऊँचे अशोक वृक्ष के नीचे स्थित तथा (उन्मयूखम्) जिसकी किरणें ऊपर को फैल रही हैं, ऐसा (भवतः) आपका (अमलम्) उज्ज्वल (रूपम्) रूप (स्पष्टोल्लसत्किरणम्) स्पष्ट रूप से शोभायमान हैं किरणें

जिसकी और (अस्तमोवितानम्) नष्ट कर दिया है, अन्धकार का समूह जिसने ऐसे (पयोधरपार्श्ववर्ति) मेघ के पास में वर्तमान (रवे: बिम्बम् इव) सूर्य के बिंब की तरह (नितान्तम्) अत्यन्त (आभाति) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ? ऊँचे और हरे-भरे अशोक वृक्ष के नीचे आपका सुवर्ण-सा उज्ज्वल रूप उस भाँति भला मालूम होता है, जिस भाँति काले-काले मेघ के नीचे सूर्य का मण्डल । यह अशोक प्रातिहार्य का वर्णन है ।।२८।।

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपु: कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मे: ।।२९।।

सिंहासन-स्फटिक रत्न-जड़ा उसी में,
भाता विभो ! कनक-कान्त शरीर तेरा ।
ज्यों रत्नपूर्ण उदयाचल शीशपै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोहे ।। २९ ।।

टीका—भो नाथ ! मणिमयूखशिखाविचित्रे नानारत्नकिरणप्रभा-भासुरे । सिंहासनेऽध्यविष्टरे । कनकावदातं प्रतप्तकांचनसन्निभं । तव परमेश्वरस्य सप्तधातुविवर्जितं परमौदारिकं वपुर्देहो विभ्राजते । अतिशयेन विराजत इत्यर्थ: । मणीनां मयूखा: किरणास्तेषां शिखा: कांतिकलापास्ताभिर्विचित्रं तस्मिन् । किमिव सहस्ररश्मे: सूर्यस्य बिंबं मण्डलं । तुंगोदयाद्रिशिरसि उच्चैस्तरोदयशिखरे । विराजते शोभते । तुङ्गश्चासावुदयाद्रिश्च तुङ्गोदयाद्रिस्तस्य शिखरं तस्मिन् । कथंभूतं बिम्बम् ? वियद्विलसदंशुलतावितानं वियति गगने विलसच्छोभमान-मंशुलतानां वितानं यस्मिन् तत् ।।२९।।

अन्वयार्थ—(मणिमयूखशिखाविचित्रे) रत्नों की किरणों के अग्रभाग से चित्र-विचित्र (सिंहासने) सिंहासन पर (तव)

आपका (कनकावदातम्) सुवर्ण की तरह उज्ज्वल (वपुः) शरीर, (तुङ्गोदयाद्रिशिरसि) ऊँचे उदयाचल की शिखर पर (वियद्विलसदंशुलतावितानम्) आकाश में शोभायमान हैं किरणरूपी लताओं का समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मेः) सूर्य के (बिम्बम् इव) मण्डल की तरह (विभ्राजते) शोभायमान हो रहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! उदयाचल की चोटी पर सूर्य का बिम्ब जैसा भला मालूम होता है, वैसा ही रत्नों के सिंहासन पर आपका मनोहर शरीर भला मालूम होता है । यह सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन है ।।२९।।

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकांतम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ।।३०।।

तेरा सुवर्णसम देह विभो ! सुहाता,
हैं श्वेत कुन्द-सम चामर के उड़ेसे ।
सोहे सुमेरुगिरि, कांचन कांतिधारी,
ज्यों चन्द्रकांति-धर निर्झरके बहेसे ।। ३० ।।

टीका—भो भगवन् ! तव वपुः कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं सत् विभ्राजते चकास्तीत्यर्थः । कुन्दवदवदातानि उज्ज्वलानि चलानि वीज्यमानानि च तानि चामराणि च कुन्दावदातचलचामराणि तैः चार्वी मनोज्ञा शोभा यस्य तत् । कथंभूतं वपुः ? कलधौतवत्कान्तं मनोज्ञं कलधौतकान्तं । किमिव सुरगिरेः शातकौम्भं । उच्चैस्तटमिव यथा सुरगिरेर्मेरोः शातकौम्भं । सुवर्णमयं उच्चैस्तटं । विभ्राजते । शातकुम्भस्येदं शातकौम्भं । कथंभूतमुच्चैस्तटं ? उद्यश्चासौ शशांकश्चोद्यच्छशांकस्तद्वच्छुचीन्युज्ज्वलानि च निर्झराणां वारीणि च उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारीणि तेषां धारा यस्मिन् तत् ।।३०।।

अन्वयार्थ—(कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) कुन्दके फूलके समान स्वच्छ चँवरों के द्वारा सुन्दर है, शोभा जिसकी ऐसा (तव) आपका (कलधौतकान्तम्) सुवर्ण के समान सुन्दर (वपुः) शरीर (उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्) जिस पर चन्द्रमा के समान शुक्ल झरने के जल की धारा बह रही है, ऐसे (सुरगिरेः) मेरुपर्वत के (शातकौम्भम्) सोने के बने हुए (उच्चैस्तटम् इव) ऊँचे तट की तरह (विभ्राजते) शोभायमान होता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस पर देवों के द्वारा सफेद चँवर ढोले जा रहे हैं, ऐसा आपका सुवर्णमय शरीर उतना सुहावना मालूम होता है, जितना कि झरनेके सफेद जल से शोभित मेरुपर्वत का सोने का शिखर। यह चँवर प्रातिहार्यका वर्णन है ।।३०।।

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ।।३१।।

मोती मनोहर लगे जिनमें सुहाते,
नीके हिमांशु-सम, सूरज-तापहारी ।
हैं तीन छत्र शिरपै अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता बताते ।। ३१ ।।

टीका—भो भगवन् ! तव भगवतः । छत्रत्रयं शशांकवदुज्ज्वलं शशांककान्तं । पुनः कथं ? स्थगित उत्तंभितो भानुकराणां सूर्यकिरणानां प्रतापो येन तत् । पुनः कथं ? मुक्ताफलानां प्रकाराः गुच्छाः मुक्ताफल-प्रकारास्तेषां जालानि पुंजास्तैर्विशेषेण वृद्धा वर्धमाना शोभा यस्य तत् । पुनः कथं ? त्रिजगतः परमेश्वरस्य परमैश्वर्यं प्रख्यापयत् प्रवदत् (प्रकर्षेण) ख्यापयति कथयतीति प्रख्यापयत् । परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वं ।।३१।।

अन्वयार्थ---(शशाङ्ककान्तम्) चन्द्रमा के समान सुन्दर (स्थगितभानुकरप्रतापम्) सूर्य की किरणों के संतापको रोकने-वाले तथा (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्) मोतियोंके समूहोंसे बढ़ती हुई शोभा को धारण करनेवाले (तव उच्चैः स्थितम्) आपके ऊपर स्थित (छत्रत्रयम्) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगत्के (परमेश्वरत्वम्) स्वामित्व को (प्रख्यापयत 'इव') प्रकट करते हुएकी तरह (विभाति) शोभायमान होते हैं ।

भावार्थ—भगवन् ! आपके शिरपर जो तीन छत्र फिर रहे हैं; वे मानो यह प्रकट कर रहे हैं कि आप तीन लोक के स्वामी हैं । यह छत्रत्रय प्रतिहार्य का वर्णन है ।।३१।।

> गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
> त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
> सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
> खे दुंदुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ।। ३२ ।।

गम्भीर नाद भरता दश हो दिशा में,
सत्संग की त्रिजगको महिमा बताता ।
धर्मेशकी कर रहा जय-घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ।। ३२ ।।

टीका–खे आकाशे । ते तव तीर्थंकरस्य । दुन्दुभिः पटहः । ध्वनति शब्दायते । कथंभूतं दुन्दुभिः ? गम्भीरोऽगाधस्तार उच्चैस्तरो यो रवः शब्दस्तेन पूरिता दिग्विभागा येन सः । पुनः कथंभूतं ? त्रैलोक्यस्य लोका इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादयस्तेषां शुभस्य संगमः प्राप्तिस्तस्य-भूतिर्भवनं तत्र दक्षो निपुण इत्यर्थः । पुनः कथं ? सत्समीचीनो यो धर्मराजस्तस्य जयघोषणं जयपटहं घोषयति कथयतीति सद्धर्मराज-जयघोषणघोषकः । अथवा सन् विद्यमानो धर्मराजो यमस्तस्य जय-स्तस्य घोषणं घोषयतीति, पुनः कथं ? सन् उत्तमः । पुनः कथंभूतं ? यशसः प्रवादी । प्रकर्षेण वदत्येवं शीलः प्रवादी ।।३२।।

अन्वयार्थ—(गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग:) गम्भीर और उच्च शब्दसे दिशाओंके विभागको पूर्ण करने वाला (त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्ष:) तीन लोकके जीवोंको शुभ सम्पत्ति प्राप्त करानेमें समर्थ और (सद्धर्मराजजयघोषणघोषक:) समीचीन जैनधर्मके स्वामीकी जयघोषणा करनेवाला (दुन्दुभि:) दुन्दुभि बाजा (ते) आपके (यशस:) यश का (प्रवादी सन्) कथन करता हुआ (खे) आकाश में (ध्वनति) शब्द करता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आकाश में जो दुन्दुभि बाजा बज रहा है, वह मानो आपकी जय बोलता हुआ सुयश प्रकट कर रहा है । यह दुन्दुभि प्रातिहार्यका वर्णन है ।

मन्दारसुन्दरनमेरुपारिजात–
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गंधोदविंदुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ।।३३।।

गन्धोदबिन्दुयुत मारुतकी गिराई,
मन्दारकादि तरुकी कुसुमावलीकी ।
होती मनोरम महा सुरलोकसे है,
वर्षा, मनो तव लसे वचनावली है ।। ३३ ।।

टीका—भो भगवन् ! ते तव । उद्धा प्रत्यग्रा । मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसमोत्करवृष्टि: । दिवो गगनात्पतति । मंदाराणि च सुन्दरनमेरूणि च सुपारिजातानि च सन्तानकानि च मन्दारसुन्दरनमेरूसुपारिजातसन्तानकानि तान्येवादिर्येषां तान्येवं विधानि च तानि कुसुमानि च तेषामुत्कर: समूहस्तस्य वृष्टिर्वर्षणं मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टि: । गन्धमिश्रिता य उदबिन्दवो जलकणा: शुभा: शीतला मन्दा: सुरभयो ये मरुतो वायवस्तेषां प्रपातो यस्यां सा । पुन: कथंभूता ? दिवि भवा दिव्या । वा इवार्थे । उत्प्रेक्षते तव वचसां ततिरिव वचनश्रेणिरिव ।।३३।।

अन्वयार्थ—(गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) सुगन्धित जलकी बूँदों और उत्तम मन्द हवाके साथ है प्रपात-गिरना जिसका ऐसी (उद्धा) श्रेष्ठ और (दिव्या) मनोहर (मन्दारसुन्दर-नमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षोंके फूलोंके समूहकी वर्षा (ते) आपके (वचसाम्) वचनोंकी (ततिः वा) पंक्तिकी तरह (दिवः) आकाशसे (पतति) पड़ती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! सुगन्धित जल और मन्द हवाके साथ आकाशसे जो कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा होती है, वह आपके मनोहर वचनावलीकी तरह शोभित होती है। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्यका वर्णन है ।।३३।।

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरंतरभूरिसंख्या-
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ।।३४।।

त्रैलोक्य की सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ ऐसा ।
नाना प्रचण्ड रवि-तुल्य सुदीप्तिधारी,
है जीतता शशि सुशोभित रातको भी ।। ३४ ।।

टीका—भो स्वामिन् ! ते तव । विभोः परब्रह्मणः । शुम्भत्प्रभा-वलयभूरिविभा । भामण्डलप्रभा लोकत्रयद्युतिमतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्र-प्रकीर्णतारकादीनां द्युति दीप्तिमाक्षिपन्ती तिरस्कुर्वन्ती । सती दीप्त्या कृत्वा । निशामपि रात्रिमपि जयत्यपि । शुम्भच्छोदमानंयत्प्रभावलयं भा-मण्डलं तस्य भूरिश्चासौ विभा च शुम्भत्प्रभाभलयभूरिविभा । लोकत्रये द्युतिमन्तस्तेषाम् । कथंभूता भामण्डलप्रभा ? प्रोद्यन्तः उदयन्तो दिवा-कराः सूर्यास्तेषां निरान्तरा आन्तर्यरहिता भूरयः प्रचुराः संख्या गणना यस्याः सा । पुनः कथंभूता ? सोमश्चन्द्रस्तद्वत्सौम्या मनोज्ञा ।।३४।।

अन्वयार्थ—(लोकत्रयद्युतिमताम्) तीनों लोकोंके कांति-मान पदार्थोंकी (द्युतिम्) कांतिको (आक्षिपन्ती) तिरस्कृत करनेवाली (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या) उगते हुए अन्तर रहित अनेक सूर्योंकी है बहु गणना जिनमें और ऐसी (सोमसौम्या) चन्द्रमा के समान सुन्दर (ते विभोः) आपके (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) देदीप्यमान भामण्डलकी विशाल कान्ति-रात्रिको भी (जयति) जीत रही है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आपकी प्रभा सूर्यसे भी अधिक तेजस्विनी है, तथापि वह सन्ताप देनेवाली नहीं है । चन्द्रमाकी तरह शीतल भी है। यह भामण्डल प्रातिहार्यका वर्णन है ।।३४।।

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ।।३५।।

है स्वर्ग मोक्ष-पथ-दर्शनकी सुनेता,
सद्धर्मके कथनमें पटु है जगोंके ।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी प्रभो ! है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिससे ।। ३५ ।।

टीका—भो विभो ! ते तव भगवतो दिव्यध्वनिर्भवति । कथंभूतो दिव्यध्वनिः ? स्वर्गः सुरलोकोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्गममार्गः गमनपथ-स्तस्य विमार्गणं प्रापणं तत्रेष्टः समर्थः । पुनः कथंभूतः ? त्रिलोक्याः सत्समीचीनं यद्धर्मतत्त्वं तस्य कथनं तत्रैकपटुरद्वितीयो वाचालः । पुनः कथं ? विशदाश्च ते अर्थाश्च विशदार्थास्तैः । सर्वेषां प्राणिनां भाषाणां स्व-भावपरिणामगुणं प्रकर्षेण युनक्तीति विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणाम-गुणप्रयोज्यः । सर्वे प्राणिनः स्वस्वभाषया निसृतं तव दिव्यध्वनिं कलयन्तीति तात्पर्यार्थः ।।३५।।

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्षको जानेवाले मार्गके खोजनेके लिये इष्ट (त्रिलोक्याः) तीनों लोकके जीवों-को (सद्धर्मतत्त्व कथनैकपटुः) समीचीन धर्मतत्त्व के कथन करने में अत्यन्त समर्थ और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः) स्पष्ट अर्थवाली सम्पूर्ण भाषाओं में परिवर्तित होनेवाले स्वाभाविक गुण से सहित (भवति) होती है ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! आपकी वाणी स्वर्ग और मोक्षका रास्ता बतानेवाली है, सब जीवोंको हितका उपदेश देनेमें समर्थ है, और सब भाषाओंमें बदल जाती है, अर्थात् जो जिस भाषाका जानकार है, आपकी दिव्यध्वनि उसके कानोंके पास पहुँचकर उसी रूप हो जाती है। यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्यका वर्णन है ।।३५।।

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति-
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ।।३६।।

फूले हुए कनकके नव पद्मके से
शोभायमान नखकी किरण-प्रभासे
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो ! हैं,
नीके वहाँ विबुध पंकज कल्पते हैं ।। ३६ ।।

टीका— भो जिनेन्द्र ! यत्र स्थाने । तव भगवतः । पादौ पदानि । धत्तः धरतः । तत्र स्थाने । विबुधाः देवाः । पद्मानि कमलानि । परि-कल्पयन्ति रचयन्तीत्यर्थः । कथंभूतौ पादौ ? उन्निद्राणि विकसितानि यानि हेम्नः सुवर्णस्य नवपंकजानि कमलानि तेषां पुंजः समूहस्तस्य कान्तिस्तया कृत्वा परिसन्मततः उल्लसन्तोः ये नखास्तेषां किरणास्तेषां शिखाग्रभागस्ताभिरभिरामौ मनोज्ञावित्यर्थः ।।३६।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव ! (उन्निद्रहेमनव-पङ्कजपुञ्जकान्तिपर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) फूले हुए सुवर्णके नवीन कमल समूहके समान कान्तिके द्वारा सब ओरसे शोभायमान नखों की किरणोंके अग्र भागसे सुन्दर (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहाँ (पदानि) कदम (धत्तः) रखते हैं (तत्र) वहाँ (विबुधाः) देव (पद्मानि) कमल (परिकल्पयन्ति) रच देते हैं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब आप धर्मोपदेश देनेके लिये आर्य क्षेत्रों में विहार करते हैं, तब देवलोग आपके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते जाते हैं ।।३६।।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ।। ३७ ।।

तेरी विभूति इस भाँति विभो ! हुई जो,
सो धर्मके कथनमें न हुई किसीकी ।
होते प्रकाशित परन्तु तमिस्त्र-हर्ता,
होता न तेज रवि तुल्य कहीं ग्रहोंका ? ।। ३७ ।।

टीका—भो जिनेन्द्र ! इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण । यथा धर्मोपदेशन-विधौ । तव तीर्थंकरस्य । विभूतिरभूत् बभूव । तथा परस्य हरिहरादिषु विभूतिर्नाभूत् । धर्मस्योपदेशनं धर्मोपदेशनं तस्य विधिस्तस्मिन् । एतद्यु क्तमेव दिनकृतः सूर्यस्य प्रभा दीप्तिर्यादृगभूत् । विकाशिनोऽपि प्रकटी-भूतस्यापि ग्रहगणस्य तादृक् प्रभा कुत एव । कथंभूता सूर्यप्रभा ? प्रहतानि निराकृतानि अन्धकाराणि यस्यां सा ।।३७।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (इत्थं) इस प्रकार (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशके कार्यमें (यथा) जैसी (तव) आपकी (विभूतिः) विभूति (अभूत्) हुई थी, (तथा) वैसी

(परस्य) किसी दूसरेकी (न 'अभूत्') नहीं हुई थी। (प्रहतान्धकारा) अन्धकारको नष्ट करनेवाली (यादृक्) जैसी (प्रभा) कान्ति (दिनकृतः) सूर्यकी ('भवति') होती है, (तादृक्) वैसी (विकाशिनः-अपि) प्रकाशमान भी (ग्रह-गणस्य) अन्य ग्रहोंकी (कुतः) कहाँसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

भावार्थ—हे प्रभो ! धर्मोपदेशके विषयमें समवसरणादिरूप जैसी विभूति आपको प्राप्त हुई थी, वैसी विभूति अन्य देवताओंको प्राप्त नहीं हुई थी। सो ठीक ही है, क्या कभी सूर्य जैसी कान्ति शुक्र आदि ग्रहों से भी प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ।।३७।।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वाभयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ।।३८।।

दोनों कपोल झरते मदसे सने हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली है।
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ।। ३८ ।।

टीका—भो नाथ ! भवदाश्रितानां पुंसां। ऐरावताभं पराक्रमेण ऐरावततुल्यं। उत्कटं उद्धतमापतन्तं सन्मुखमागच्छन्तमिभं हस्तिनं। दृष्ट्वा विलोक्य। भयं नो भवति। भवन्तमाश्रिता भवदाश्रितस्तेषां। कथंभूतमिमं ? श्चयोतन्तः क्षरन्तो ये मदास्तैराविलो कलुषीभूतौ विलालौ यो कपालो तयोर्मूले मत्ता भ्रमन्तश्चौ ये भ्रमरास्तेषां नाद शब्दस्तेन विवृद्धः कोपो यस्य स तम् ।।३८।।

अन्वयार्थ—(भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्यों को (श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्)

झरते हुए मद-जल से मलिन और चञ्चल गालोंके मूल भागमें पागल हो घूमते हुए भौंरों के शब्दसे बढ़ गया है क्रोध जिसका ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावत की तरह (उद्धतम्) उद्दण्ड (आपतन्तम्) सामने आते हुए (इभम्) हाथीको (दृष्ट्वा) देखकर (भयम्) डर (नो भवति) नहीं होता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं, उन्हें मदोन्मत्त हाथी भी नहीं डरा सकता ।।३८।।

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ।।३९।।

नाना करीन्द्रदल कुम्भ विदार डेरी,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गजमोतियोंसे ।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उस्पै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ।। ३९ ।।

टीका—भो भगवन् ! हरिणाधिपोऽपि तव विभो क्रमयुगाचलसंश्रितं प्राणिनं नाक्रामति न पीडयति । क्रमयोर्युगं क्रमयुगं क्रमयुगमेवाचलः पर्वतस्त्वं संश्रितस्तं । हरिणानामधिपः । कथंभूतः हरिणाधिपः ? भिन्ना विदारिता ये इभाः हस्तिनस्तेषां कुंभाः कुम्भस्थलानि तेभ्यो गलंति उज्ज्वलानि शोणितेन रुधिरेण आक्तानि लिप्तानि यानि मुक्ताफलानि तेषां प्रकरः समूहस्तेन भूषितोऽलंकारितो भूमेर्भागः प्रदेशो येन सः । पुनः कथंभूतः ! बद्धः क्रमः फाल इति येन स । कथंभूतं प्राणिनं ? क्रमं फालं गतः प्राप्तस्तं । सिंहस्य फालः क्रमः इति कथ्यते ।।३९।।

अन्वयार्थ—(भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथी के गण्डस्थलसे गिरते हुए उज्ज्वल तथा खूनसे भीगे हुए मोतियोंके समूहके द्वारा भूषित किया है पृथिवीका भाग जिसने ऐसा तथा (बद्धक्रमः)

छलाँग मारने के लिये तैयार (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतम्) अपने पाँवों के बीच आये हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितम्) चरण युगलरूप पर्वतका आश्रय लेने-वाले पुरुषपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके चरणोंकी शरण लेता है, सिंह भी उनका शिकार नहीं कर पाता ।।३९।।

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ।।४०।।

झालें उठें चहुँ उड़े जलते अँगारे,
दावाग्नि जो प्रलयवह्नि समान भासे ।
संसार भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्ति-गान शुभ-वारि उसे समावे ।। ४० ।।

टीका—भो भगवन् ! त्वन्नामकीर्तनजलं भवन्नामस्मरणपानीयं । अशेषं समग्रं दावानलं विश्वं त्रैलोक्यं जिघृत्सुमिव सम्मुखमापतन्त-मभिमुखमागच्छन्तं शमयति । तव नाम त्वन्नाम्नः कीर्तनं तदेव जलं त्वन्नामकीर्तनजलं । अत्तुमिच्छति जिघत्सति, जिघत्सतीति जिघत्सुस्तं । कथंभूतं दावानलं ? कल्पान्तकालपवनेन प्रलयकालवायुनोद्धताः ये वह्नयस्तेभ्यः ईषन्न्यूनः कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पस्तं । पुनः ज्वालाः संजाता उत्पन्ना यस्यासौ ज्वलितस्तं । ज्वालादेर्ह्रस्वः । पुनः कथं ? उज्ज्वलं उत् ऊर्ध्वं ज्वलतीति उज्ज्वलस्तं । अथवा उज्ज्वलन्तेजोभिराक्रान्तं । पुनः कथं ? उत्स्फुलिंगम् उत इत्युच्छलन्तः स्फुलिंगाः वह्निकणाः यस्मात्स तम् ।।४०।।

अन्वयार्थ—(त्वन्नामकीर्तनजलम्) आपके नामका यशो-गानरूपी जल, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्) प्रलय-काल की वायु की प्रचण्ड अग्नि के तुल्य (ज्वलितम्) प्रज्वलित

(उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (उत्फुलिङ्गम्) जिससे तिलंगे निकल रहे हैं ऐसी तथा (विश्वं जिघत्सुम् इव) संसार को भक्षण करने की इच्छा रखने वाले की तरह (सम्मुखम्) सामने (आपतन्तम्) आती हुई (दावानलम्) वन की अग्नि को (अशेषम् 'यथा स्यात् तथा') सम्पूर्ण रूप से (शमयति) बुझा देता है ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके नाम का स्मरण करनेसे भयंकर दावानलदुर्वार की बाधा नष्ट हो जाती है ।।४०।।

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ।।४१।।

रक्ताक्ष क्रुद्ध पिक-कंठ समान काला,
फुंकार सर्प फणको कर उच्च धावै।
निःशंक हो जन उसे पग से उलाँघे,
त्वन्नाम नागदमनी जिसके हिये हो।। ४१ ।।

टीका—भो भगवन् ! यस्य पुंसः हृदि अन्तःकरणे त्वन्नाम-नागदमनी भवन्नामलक्षणसर्पवशीकरणौषधिरस्ति वरिवर्ति । स पुमान् निरस्तशंकः सन् । आपतन्तमभिमुखमागच्छन्तं फणिनं सर्पं क्रमयुगेन पादाभ्यामाक्रात्युल्लंघयति । कथंभूतं फणिनं ? उत् ऊर्ध्वं फणा यस्य स तं । पुनः कथंभूतं ? रक्ते आताम्रे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तं । पुनः कथं ? मदेन सह वर्तमानो यो हि कोकिलस्तस्य कण्ठस्तद्वन्नीलः श्यामलसतं । पुनः कथं ? क्रोधेनोद्धतो दृप्तस्तं । तव नाम त्वन्नाम तदेन नागदमनी त्वन्नामनागदमनी ।।४१।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (पुंस) पुरुष के (हृदि) हृदय में (त्वन्नामनागदमनी) आपके नामरूपी नागदमनी-नागदौन औषध (अस्ति) मौजूद है, (स) वह पुरुष (रक्तेक्षणम्) लाल लाल-आँखों वाले (समदकोकिलकण्ठनीलम्) मदयुक्त कोयल के

कण्ठ की तरह काले (क्रोधोद्धतम्) क्रोध से उद्दण्ड और (उत्फणाम्) ऊपर को फन उठाये हुए (आपतन्तम्) सामने आने वाले (फणिनम्) साँप को (निरस्तशंङ्कः 'सन्') शंङ्कारहित होता हुआ (क्रमयुगेन) दोनों पाँवों से (आक्रामति) लाँघ जाता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके नाम का स्मरण करता है, भयंकर साँप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।।४१।।

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशुभिदामुपैति ।।४२।।

घोड़े जहाँ हिनहिनें, गरजे गजाली,
ऐसे प्रबल सैन्य धराधिपों के।
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अंधकार उगते रवि के करों से ।। ४२ ।।

टीका—भो देव ! आजौ संग्रामे बलवतामपि भूपतीनां राज्ञां बलं सैन्यं त्वत्कीर्तनात् भवन्नामस्मरणात् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं तम इव आशु शीघ्रं भिदामुपैति भेदं प्राप्नोतीत्यर्थः । उद्यन्नुदयप्राप्तो दिवाकरः सूर्यस्तस्य मयूखास्तेषां शिखास्ताभिरपविद्धं भिदां प्राप्तं । कथंभूतं बलं ? वल्गन्तो ये तुरंगा अश्वास्तथा गजानां गर्जितानि तैर्भीमा भयंकरा नादाः शब्दा यस्मिन् तत् । तव कीर्तनं त्वत्कीर्तनं तस्मात् । बलं पराक्रमो विद्यते येषां ते बलवन्तस्तेषाम् ।।४२।।

अन्वयार्थ—(त्वत्कीर्तनात्) आपके यशोगान से (आजौ) युद्ध क्षेत्रमें (वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्) उछलते हुए घोड़े और हाथियों की गर्जना से भयंकर है शब्द जिसमें ऐसी (बलवताम्) पराक्रमी भूपतीनाम अपि) राजाओं की भी (बलम्) सेना (उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्) उगते हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से बाँधे गये (तमः इव) अन्धकार की

तरह (आशु) शीघ्र ही (भिदाम्) विनाश को (उपैति) प्राप्त हो सकती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपका यशोगान करने से बड़े-बड़े राजाओं की सेनाएँ भी युद्ध में नष्ट हो जाती हैं—हार जाती हैं ।।४२।।

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ।।४३।।

बर्छे लगे बह रहे गज रक्त के हैं,
तालाब से विकल हैं तरणार्थ योद्धा ।
जीते न जायँ रिपु, संगर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो ! चरण-सेवक जीतते हैं ।। ४३ ।।

टीका—भो भगवन् ! त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः प्राणिनो युद्धे रणे जयं लभन्ते विजयं प्राप्नुवंति । तव पादौ त्वत्पादौ तावेव पङ्कजे कमले तयोर्वनमाश्रयन्ति ते त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः । कथंभूतास्ते ? विजिता दुर्जया जेयपक्षाः शात्रवा यैस्ते । कथंभूते युद्धे ? कुन्तानां भल्लानामग्राणि तैर्भिन्ना विदारिता ये गजास्तेषां शोणितानि रुधिराणि तान्येव वारीणि जलानि तेषां वाहाः प्रवाहास्तेषु वेगानां रयाणां अवतारस्तत्र तरणातुरा व्याकुला ये योधाः सुभटास्तैर्भीमं भयंकरं तस्मिन् ।।४३।।

अन्वयार्थ—(त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः) आपके चरणरूप कमलों के वनका आश्रय लेने वाले पुरुष (कुन्ताग्रभिन्न-गजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे) भालोंके अग्र-भाग से विदारे गये हाथियों के खूनरूपी जल के प्रवाह को वेग में उतरने और तैरने में व्यग्र योद्धाओं के द्वारा भयंकर (युद्धे) युद्ध में (विजितदुर्जयजेयपक्षाः 'सन्तः') जीत लिया है मुश्किल से

जीतने योग्य शत्रुओं के पक्ष को जिन्होंने ऐसे होते हुए (जयम्) विजय को (लभन्ते) पाते हैं ।

भावार्थ— हे भगवन् ! जो आपके चरणों का सहारा लेते हैं वे भयङ्कर से भयङ्कर युद्ध में भी निश्चित विजय को पाते हैं ।।४३।।

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र–
पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा–
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ।।४४।।

है काल-नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यों वाडवाग्नि अति भीषण सिन्धुमें है।
तूफानमें पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो ! स्मरणसे तव पार होते ।। ४४ ।।

टीका—भो भगवन् ! रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्राः प्राणिनः अम्भोनिधौ समुद्रे । भवतस्तव । स्मरणात् स्मरणमात्रात् । त्रासं भयं । विहाय मुक्त्वा । व्रजंति इष्टस्थानं यान्तीत्यर्थः रंगन्तः उच्छलन्तः ये तरंगा कल्लोलास्तेषां शिखरऽग्रभागे स्थितानि यानि पात्राणि प्रवहणानि येषां ते । कथंभूतेऽम्भोनिधौ क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ता भीषणा भयंकरा ये नक्रा दुष्टजलचरजीवास्तेषां चक्राणि यस्मिन् स तस्मिन् पाठीनपीठो मत्स्यभेद-स्तेन भयदो महाभयप्रदायो उल्वणो वाडवाग्निर्यस्मिन् स तस्मिन् ।।४४।।

अन्वयार्थ—(क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्व-णवाडवाग्नौ) क्षोभको प्राप्त हुए भयंकर नाकुओं (मगरों) के समूह और मछलियों के द्वारा भय पैदा करने वाले तथा विकराल बडवानल जिसमें ऐसे (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रङ्गत्तरङ्गशिखर-स्थितयानपात्राः) चंचल लहरों के अग्र भाग पर स्थित है जहाज जिनका ऐसे मनुष्य (भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरणसे (त्रासम्) डर (विहाय) छोड़कर (व्रजन्ति) गमन करते हैं— यात्रा करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन ! जो आपका स्मरण करते हैं, वे तूफान के समय भी समुद्रमें निडर होकर यात्रा करते है ।।४४।।

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा
मर्त्या भवंति मकरध्वजतुल्यरूपाः ।।४५।।

अत्यन्त पीड़ित जलोदर भारसे हैं,
हैं दुर्दशा तज चुके निज जीविताशा ।
वे भी लगा तव पदाब्ज-रजः सुधाको,
होते प्रभो ! मदन-तुल्य स्वरूप देही ।। ४५ ।।

टीका—भो देव ! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना मर्त्या मनुष्यास्त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः सन्तो मकरध्वजतुल्यरूपा भवंति । उद्भूता उत्पन्ना भीषणा भयंकरा जलोदरा नानारोगादयस्तेषां भारस्तेन भुग्नाः । तव पादावेव पंकजे तयो रजस्तदेवामृतं तेन दिग्धो लिप्तो देहो येषां ते । मकरध्वजेन कामेन तुल्यं रूपं येषां ते । कथंभूता मर्त्याः ? शोच्यां दशामवस्थामुपगताः प्राप्ताः शोचयितुमर्हा शोच्या ताम् । पुनः कथंभूता ? च्युता जीवितस्याशा येषां ते ।।४५।।

अन्वयार्थ—(उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयंकर जलोदररोगके भारसे झुके हुए (शोच्याम् दशाम्) शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त और (च्युतजीविताशाः) छोड़ दी है जीवनकी आशा जिन्होंने ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः 'सन्तः') आपके चरणकमलोंकी धूलिरूप अमृतसे लिप्त शरीर होते हुए (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेव के रूप के समान रूपवाले (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जो आपके चरणों का ध्यान करता है, उसका भयङ्कर जलोदर रोग दूर हो जाता है ।।४५।।

आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्‌घाः।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ।।४६।।

सारा शरीर जकड़ा दृढ़ साँकलोंसे,
बेड़ी पड़ीं छिल गई जिनकी सुजाँघें।
त्वन्नाम मंत्र जपते जपते उन्होंने,
जल्दी स्वयं झड़ पड़े सब बन्ध बेड़ी ।। ४६ ।।

टीका—भो नाथ ! मनुजा मनुष्या अनिशं निरन्तरं । त्वन्नाममन्त्रं भवदभिधानमन्त्रं । स्मरन्तः सन्तः । सद्यस्तत्कालं विगतबंधभयाः प्रणष्टबन्धभया भवंति । तव नाम त्वन्नाम एव मन्त्रस्त्वन्नाम मन्त्रस्तं । विगतं बन्धभयं येषां ते । कथंभूता मनुजाः ? आपादकण्ठं इति पादकण्ठं आमर्यादीकृत्य उरूणि महांति तानि लोहशृङ्खलानि तैर्वेष्टितमंगं येषां ते । पुनः कथंभूतं ? गाढं यथा स्यात्तथा बृहन्ति महान्ति यानि निगडानि तेषां कोटिभिरग्रभागैर्निघृष्टा जंघा येषां ते ।।४६।।

अन्वयार्थ—(आपादकण्ठम्) पाँव से लेकर कण्ठपर्यन्त (उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः) बड़ी-बड़ी साँकलों से जकड़ा हुआ है शरीर जिनका ऐसे और (गाढं 'यथा स्यात्तथा) अत्यंत रूप से (बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः) बड़ी-बड़ी बेड़ियों के अग्रभाग से घिस गईं हैं जाँघें जिनकी ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (अनिशम्) निरन्तर (त्वन्नाममन्त्रम्) आपके नाम रूपीमन्त्र को (स्मरन्तः) स्मरण करते हुए (सद्यः) शीघ्र ही (स्वयम्) अपने आप (विगतबन्धभयाः) बंधन के भय से रहित (भवन्ति) हो जाते हैं ।।४६।।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो निरन्तर आपके नाम का जाप करते हैं, उनके बेड़ी आदि बन्धन अपने आप टूट जाते हैं ।

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।
[१]तस्याशु नाशमुपयातिभयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ।।४७।।

जो बुद्धिमान इस सुस्तव को पढ़े हैं,
होके विभीत उनसे भय भाग जाता।
दावाग्नि-सिन्धु अहिकारण–रोगका त्यों,
पञ्चास्य मत्त गजका सब बन्धनोंका ।। ४७ ।।

टीका—भो नाथ ! यः कश्चिन्मतिमान् पुमान् । इमं प्रसिद्धं तावकं स्तवं । अधीते पापठीति । तस्य पुंसः पुरुषस्य । मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थं भयं प्रणाशमुपयाति व्रजति। मत्तद्विपेन्द्रश्च मृगराजश्च दावानलश्च अहिश्च सङ्ग्रामश्च वारिधिश्च महोदरं च जलोदरं च बन्धनानि च मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधि महोदरबन्धनानि तेभ्य उत्थं सतुत्त्थितं । कयेव ? उत्प्रेक्षते भियेव भयेनेव ।।४७।।

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिमान्) बुद्धिमान मनुष्य (तावकम्) आपके (इमम्) इस (स्तवम्) स्तोत्रको (अधीते) पढ़ता है, (तस्य) उसका (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्राम-वारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्) मत्त हाथी सिंह, वनाग्नि, साँप, समुद्र, जलोदर और बन्धन आदिसे उत्पन्न हुआ (भयम्) डर (भिया इव) मानो भयसे ही (आशु) शीघ्र (नाशम्) विनाश को (उपयाति) प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका स्तवन करनेसे सब तरहके भय नष्ट हो जाते हैं । ।।४७।।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ।।४८।।

---

१. 'तस्य प्रणाशमुपयति' अमरप्रभटीकासम्मतः पाठः ।

तेरे मनोज गुणसे स्तव मालिका ये,
गूँथी प्रभो ! विविध वर्ण सुपुष्पवाली।
मैंने सभक्ति जन कण्ठ धरे इसे जो,
सो 'मानतुङ्ग' सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी।। ४८ ।।

टीका—भो जिनेन्द्र ! इह लोके कश्चन पुमान् जनो। मया भक्त्या तव गुणैर्निबद्धां भवतीर्थंकरगुणरचितां। स्तोत्रस्रजं कण्ठगतां धत्ते धरति। तं मानतुंगं जनं। लक्ष्मीः कमला अवशाद्गतचित्ता सती अजस्रं निरंतरं समुपैति प्राप्नोति। मानेन तुंगो महान् मानतुंगस्तं मानतुंगं कवेरभिधानं। स्तोत्रमेव स्रक् स्तोत्रस्रक्ताम्। यथा कश्चिद्गुणैः सूत्रैर्निबद्धां ग्रंथितां सदृशां स्रजं कण्ठमालां बिभर्ति तं पुरुषं लक्ष्मीः शोभा समुपैति। कथंभूतां स्तोत्रस्रजं ? विधिवर्णा एव विचित्राणि नानाविधानि पुष्पाणि यस्यां सा विविधवर्णविचित्रपुष्पा ताम्।।४८।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्र देव ! (इह) इस संसारमें (यः जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (गुणैः) प्रसाद माधुर्य ओज आदि गुणों से [मालाके पक्षमें-डोरेसे] (निबद्धाम्) रची गई [माला पक्षमें-गूंथी गई] (विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्) नाना अक्षर ही हैं विचित्र फूल जिसमें ऐसी [मालापक्षमें-अच्छे रंगवाले कई तरह के फूलोंसे सहित] (तव) आपकी (स्तोत्रस्रजम्) स्तुतिरूप माला को (अजस्रम्) हमेशा (कण्ठगताम् धत्ते) याद करता है, [माला-पक्षमें-गलेमें पहिनता है] (तम्) उस (मानतुङ्गम्) सम्मानसे उन्नत पुरुष [अथवा स्तोत्रके रचनेवाले मानुतुंग आचार्य] को (लक्ष्मीः) स्वर्ग मोक्षादिकी विभूति (अवशा 'सती') स्वतन्त्र होती हुई (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—हे नाथ ! जो मनुष्य आपके इस स्तोत्रका निरन्तर पाठ करता है, उसेस हर एक तरहकी लक्ष्मी प्राप्त होती है।।४८।।

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचित भक्तामर स्तोत्र समाप्त

भक्तामर भाषा

भक्त अमर नत मुकुट सुमणियों, की सु-प्रभा का जो भासक।
पापरूप अतिसघन तिमिर का, ज्ञान दिवाकर-सा नाशक॥
भव-जल पतित जनों को जिसने, दिया आदि में अवलम्बन।
उनके चरण कमल का करते, सम्यक् बारम्बार नमन॥१॥

सकल वाङ्मय तत्वबोध से उद्भव पटुतर धी-धारी।
उसी इन्द्र की स्तुति से है, वन्दित जग-जन मन हारी॥
अति आश्चर्य की स्तुति करता, उसी प्रथम जिनस्वामी की।
जगनामी-सुखधामी तद्भव-शिवगामी अभिरामी की॥२॥

स्तुति को तय्यार हुआ हूँ, मैं निर्बुद्धि छोड़ के लाज।
विज्ञजनों से अर्चित हे प्रभु, मंदबुद्धि की रखना लाज॥
जल में पड़े चन्द्र-मंडल को, बालक बिना कौन मतिमान।
सहसा उसे पकड़ने वाली, प्रबलेच्छा करता गतिमान॥३॥

हे जिन! चन्द्रकान्त से बढ़कर, तवगुण विपुल अमल अति श्वेत।
कह न सकें नर हे गुणसागर, सुर-गुरु के सम बुद्धि समेत॥
मक्र-नक्र-चक्रादि जन्तु युत, प्रलय पवन से बढ़ा अपार।
कौन भुजाओं से समुद्र के, हो सकता है परले पार॥४॥

वह मैं हूँ कुछ शक्ति न रखकर, भक्ति प्रेरणा से लाचार।
करता हूँ स्तुति प्रभु तेरी, जिसे न पौर्वापर्य विचार॥
निशजिशु की रक्षार्थ आत्म-बल, बिना विचारे क्या न मृगी।
जाती है मृगपति के आगे प्रेम-रंग में हुई रँगी॥५॥

अल्पश्रुत हूँ श्रुतवानों से, हास्य कराने का ही धाम।
करती है वाचाल मुझे प्रभु, भक्ति आपकी आठों याम॥
करती मधुर गान पिक मधु में जगजन मनहर अति अभिराम।
उसमें हेतु सरस फल फूलों, के युत हरे-भरे तरु-आम॥६॥

जिनवर की स्तुति करने से, चिर संचित भविजन के पाप।
पल भर में भग जाते निश्चित, इधर-उधर अपने ही आप॥
सकललोक में व्याप्त रात्रि का, भ्रमर सरीखा काला ध्वान्त।
प्रातः रवि की उग्र किरण लख, हो जाता क्षणमें प्राणान्त॥७॥

मैं मति-हीन-दीन प्रभु तेरी, शुरू करूँ स्तुति अघहान।
प्रभु-प्रभाव ही चित्त हरेगा, सन्तों का निश्चय से मान॥
जैसे कमल-पत्र पर जल-कण, मोती कैसे आभावान।
दिपते हैं फिर छिपते हैं, असली मोती में हैं भगवान॥८॥

दूर रहे स्तोत्र आपका, जो कि सर्वथा है निर्दोष।
पुण्य -कथा ही किन्तु आपकी, हर लेती है कल्मष-कोष॥
प्रभा प्रफुल्लित करती रहती, सर के कमलों को भरपूर।
फेंका करता सूर्य किरण को, आप रहा करता है दूर॥९॥

त्रिभुवन-तिलक जगतपति हे प्रभु! सद्गुरुओं के हे गुरुवर्य्य।
सद्भक्तों को निजसम करते, इसमें नहीं अधिक आश्चर्य॥
स्वाश्रित जन को निजसम करते, धनी लोग धन धरनी से।
नहीं करें तो उन्हें लाभ क्या? उन धनिकों की करनी से॥१०॥

हे अनिमेष विलोकनीय प्रभु, तुम्हें देखकर परम-पवित्र।
तोषित होते कभी नहीं हैं, नयन मानवों के अन्यत्र॥
चन्द्र-किरण सम उज्ज्वल निर्मल, क्षीरोदधि का कर जलपान।
कालोदधि का खारा पानी, पीना चाहे कौन पुमान॥११॥

जिन जितने जैसे अणुओं से, निर्मापित प्रभु तेरी देह।
थे उतने वैसे अणु जगमें, शांत-राग-मय निःसन्देह॥
हे त्रिभुवन के शिरोभाग के, अद्वितीय आभूषण रूप।
इसीलिये तो आप सरीखा, नहीं दूसरों का है रूप॥१२॥

कहाँ आपका मुख अति सुन्दर, सुर-नर-उरग नेत्र हारी।
जिसने जीत लिये सब जग के, जितने थे उपमाधारी॥
कहाँ कलंकी बंक चन्द्रमा, रंक-समान कीट-सा दीन।
जो पलाश-सा फीका पड़ता, दिन में हो करके छवि-छीन॥१३॥

तव गुण पूर्ण-शशाङ्क कान्तिमय, कला-कलापों से बढ़के।
तीन लोक में व्याप रहे हैं, जो कि स्वच्छता में चढ़के॥
विचरें चाहे जहाँ कि जिनको, जगन्नाथ का एकाधार।
कौन माई का जाया रखता, उन्हें रोकने का अधिकार॥१४॥

मद की छकीं अमर ललनाएँ, प्रभु के मन में तनिक विकार।
कर न सकीं आश्चर्य कौनसा, रह जाती हैं मन को मार॥
गिर गिर जाते प्रलय पवन से, तो फिर क्या वह मेरु-शिखर।
हिल सकता है रंच-मात्र भी, पाकर झंझावात प्रखर॥१५॥

धूम न बत्ती तैल बिना ही, प्रकट दिखाते तीनों लोक।
गिरि के शिखर उड़ाने वाली, बुझा न सकती मारुत झोक॥
तिस पर सदा प्रकाशित रहते, गिनते नहीं कभी दिन-रात।
ऐसे अनुपम आप दीप हैं, स्व-पर-प्रकाशक जग-विख्यात॥१६॥

अस्त न होता कभी न जिसको, ग्रस पाता है राहु प्रबल।
एक साथ बतलाने वाला, तीन लोक का ज्ञान विमल॥
रुकता कभी प्रभाव न जिसका, बादल की आकर के ओट।
ऐसी गौरव-गरिमा वाले, आप अपूर्व दिवाकर कोट॥१७॥

मोह महातम दलने वाला, सदा उदित रहने वाला।
राहु न बादल से दबता पर, सदा स्वच्छ रहने वाला॥
विश्व-प्रकाशक मुखसरोज तव, अधिक कांतिमयशांतिस्वरूप।
है अपूर्व जगका शशि-मण्डल, जगत शिरोमणि शिव का भूप॥१८॥

नाथ आपका मुख जब करता, अन्धकार का सत्यानाश।
तब दिन में रवि और रात्रि में, चन्द्र-बिम्बका विफल प्रयास॥
धान्य-खेत जब धरती तल के, पके हुए हों, अति अभिराम।
शोर मचाते जल को लादे, हुए घनों से तब क्या काम?॥१९॥

जैसा शोभित होता प्रभु का, स्वपर-प्रकाशक उत्तम ज्ञान।
हरिहरादि देवों में वैसा, कभी नहीं हो सकता भान॥
अति ज्योतिर्मय महारतन का जो महत्व देखा जाता।
क्या वह किरणा कुलित काँच में, अरे कभी लेखा जाता॥२०॥

हरिहरादि देवों का ही मैं, मानूँ उत्तम अवलोकन।
क्योंकि उन्हें देखने पर से, तुझसे तोषित होता मन॥
है परन्तु क्या तुम्हें देखने से, हे स्वामिन्! मुझको लाभ।
जन्म जन्म में भी न लुभा पाते, कोई यह मम, अमिताभ॥२१॥

सौ सौ नारी सौ सौ सुत को, जनती रहती सौ सौ ठौर।
तुम से सुत को जनने वाली, जननी महती क्या है और॥
तारागण को सर्व दिशाएँ, धरें नहीं कोई खाली।
पूर्व दिशा ही पूर्ण प्रतापी, दिनपति को जनने वाली॥२२॥

तुमको परम पुरुष मुनि मानें, विमल वर्ण रवि तमहारी।
तुम्हें प्राप्त कर मृत्युञ्जय के, बन जाते जन अधिकारी॥
तुम्हें छोड़कर अन्य न कोई, शिवपुर-पथ बतलाता है।
किन्तु विपर्यय मार्ग बताकर, भव-भव में भटकाता है॥२३॥

तुम्हें आद्य अक्षय अनन्त प्रभु, एकानेक तथा योगीष।
ब्रह्मा ईश्वर या जगदीश्वर, विदित योग मुनिनाथ मुनीश॥
विमल ज्ञानमय या मकरध्वज, जगन्नाथ जगपति जगदीश।
इत्यादिक नामों कर माने, सन्त निरन्तर विभो निधीश॥२४॥

ज्ञान पूज्य है, अमर आपका, इसीलिये कहलाते बुद्ध।
भुवनत्रय के सुख-सम्वर्द्धक, अतः तुम्हीं शङ्कर हो शुद्ध॥
मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रवर्तक, अतः विधाता कहें गणेश।
तुम सम अवनी पर पुरुषोत्तम, और कौन होगा अखिलेश॥२५॥

तीन लोक के दुःखहरण, करने वाले हो तुम्हें नमन।
भूमण्डलके निर्मल-भूषण, आदि जिनेश्वर तुम्हें नमन॥
हे त्रिभुवन के अखिलेश्वर हो, तुमको बारम्बार नमन।
भव-सागर के शोषक पोषक, भव्य जनों के तुम्हें नमन॥२६॥

गुणसमूह एकत्रित होकर, तुझमें यदि पा चुके प्रवेश।
क्या आश्चर्य न मिल पाये हों, अन्य आश्रय उन्हें जिनेश॥
देव कहे जाने वालों से, आश्रित होकर गर्वित दोष।
तेरी ओर न झाँक सके वे, स्वप्न मात्र में हे गुणकोष॥२७॥

उन्नत तरु अशोक के आश्रित, निर्मल किरणोन्नत वाला।
रूप आपका दिपता सुन्दर, तमहर मनहर छवि वाला।।
वितरण किरण निकरतमहारक, दिनकर घनके अधिक समीप।
नीलाचल पर्वत पर होकर, नीराजन करता ले दीप।।२८।।

मणि-मुक्ता किरणों से चित्रित, अद्भुत शोभित सिंहासन।
कान्तिमान कंचन-सा दिखता, जिसपर तव कमनीय वदन।।
उदयाचल के तुङ्ग शिखर से, मानो सहस्ररश्मि वाला।
किरण-जाल फैलाकर निकला, हो करने को उजियाला।।२९।।

ढुरते सुन्दर चँवर विमल अति, नवल कुन्द के पुष्प समान।
शोभा पाती देह आपकी, रौप्य धवल-सी आभावान।।
कनकाचल के तुङ्ग शृङ्ग से, झर झर झरता है निर्झर।
चन्द्र-प्रभा सम उछल रही हो, मानो उसके ही तट पर।।३०।।

चन्द्र-प्रभा सम झल्लरियों से, मणि-मुक्तामय अति कमनीय।
दीप्तिमान् शोभित होते हैं, सिर पर छत्रत्रय भवदीय।।
ऊपर रहकर सूर्य-रश्मि का, रोक रहे हैं प्रखर-प्रताप।
मानों वे घोषित करते हैं, त्रिभुवन के परमेश्वर आप।।३१।।

ऊँचे स्वर से करने वाली, सर्व दिशाओं में गुञ्जन।
करने वाली तीन लोक के, जन-जन का शुभ-सम्मेलन।।
पीट रही है डंका-"हो सत् धर्म"—राज की ही जय-जय।
इस प्रकार बज रही गगन में, भेरी तव यश की अक्षय।।३२।।

कल्पवृक्ष के कुसुम मनोहर, पारिजात एवं मंदार।
गन्धोदक की मंद वृष्टि करते हैं, प्रमुदित देव उदार।।
तथा साथ ही नभ से बहती, धीमी धीमी मन्द पवन।
पंक्ति बाँध कर बिखर रहे हों, मानों तेरे दिव्य वचन।।३३।।

तीन लोक की सुन्दरता यदि, मूर्तिमान बनकर आवे।
तन-भा-मंडल की छवि लखकर, तव सन्मुख शरमा जावे।।
कोटिसूर्य के ही प्रताप सम, किन्तु नहीं कुछ भी आताप।
जिनके द्वारा चन्द्र सुशीतल, होता निष्प्रभ अपने आप।।३४।।

मोक्ष-स्वर्ग के मार्ग प्रदर्शक, प्रभुवर तेरे दिव्य-वचन ।
करा रहे हैं 'सत्य-धर्म' के, अमर-तत्व का दिग्दर्शन ।।
सुनकर जग के जीव वस्तुतः, कर लेते अपना उद्धार ।
इस प्रकार परिवर्तित होते, निज-निज भाषा के अनुसार ।।३५।।

जगमगात नख जिसमें शोभे, जैसे नभ में चन्द्र किरण ।
विकसित नूतन सरसीरुहसम, हे प्रभु तेरे विमल चरण ।।
रखते जहाँ वहीं रचते हैं, स्वर्णकमल सुरदिव्य ललाम ।
अभिनन्दन के योग्य चरण तव, भक्ति रहे उनमें अभिराम ।।३६।।

धर्म-देशना के विधान में, था जिनवर का जो ऐश्वर्य ।
वैसा क्या कुछ अन्य कुदेवों, में भी दिखता है सौन्दर्य ।।
जो छवि घोर-तिमिर के नाशक, रवि में है देखी जाती ।
वैसी ही क्या अतुल कान्ति, नक्षत्रों में लेखी जाती ।।३७।।

लोल कपोलों से झरती है, जहाँ निरन्तर मद की धार ।
होकर अति मदमत्त कि जिस पर, करते हैं भौंरे गुँजार ।।
क्रोधासक्त हुआ यों हाथी, उद्धत ऐरावत सा काल ।
देख भक्त छुटकारा पाते, पाकर तव आश्रय तत्काल ।।३८।।

क्षत-विक्षत कर दिये गजों के, जिसने उन्नत गण्डस्थल ।
कांतिमान गज-मुक्ताओं से, पाट दिया हो अवनी-तल ।।
जिन भक्तों को तेरे चरणों के, गिरि की हो उन्नत ओट ।
ऐसा सिंह छलांगें भरकर, क्या उसपर कर सकता चोट ?।।३९।।

प्रलयकाल की पवन उठाकर, जिसे बढ़ा देती सब ओर ।
फिकें फुलिंगे ऊपर तिरछे, अङ्गारों का भी होवे जोर ।।
भुवनत्रय को निगला चाहे, आती हुई अग्नि भभकार ।
प्रभु के नाम-मंत्र जल से, वह बुझ जाती है उसही बार ।।४०।।

कंठ कोकिला सा अतिकाला, क्रोधित हो फण किया विशाल ।
लाल-लाल लोचन करके यदि, झपटे नाग महा विकराल ।।
नाम-रूप तव अहि-दमनी का, लिया जिन्होंने हो आश्रय ।
पग रख कर निशङ्क नाग पर, गमन करें वे नर निर्भय ।।४१।।

जहाँ अश्व की और गजों की, चीत्कार सुन पड़ती घोर।
शूरवीर नृप की सेनाएँ, रव करती हों चारों ओर॥
वहाँ अकेला शक्तिहीन नर, जप कर सुन्दर तेरा नाम।
सूर्य-तिमिर सम शूर-सैन्य का, कर देता है काम तमाम॥४२॥

रण में भालों से वेधित गज, तन से बहता रक्त अपार।
वीर लड़ाकू जहँ आतुर हैं, रुधिर-नदी करने को पार॥
भक्त तुम्हारा हो निराश तहँ, लख अरिसेना दुर्जयरूप।
तव पादारविन्द पा आश्रय जय पाता उपहार-स्वरूप॥४३॥

वह समुद्र कि जिसमें होवें, मच्छ मगर एवं घड़ियाल।
तूफाँ लेकर उठती होवें, भयकारी लहरें उत्ताल॥
भ्रमर-चक्र में फँसी हुई हो, बीचों बीच अगर जल यान।
छुटकारा पा जाते दुख से, करने वाले तेरा ध्यान॥४४॥

असहनीय उत्पन्न हुआ हो, विकट जलोदर पीड़ा भार।
जीने की आशा छोड़ी हो, देख दशा दयनीय अपार॥
ऐसे व्याकुल मानव पाकर, तेरी पद-रज संजीवन।
स्वास्थ्य-लाभकर बनता उनका, कामदेव सा सुन्दर तन॥४५॥

लोह-शृङ्खला से जकड़ी है, नख से शिर तक देह समस्त।
घुटने-जंघे छिले बेड़ियों से, अधीर जो है अतित्रस्त॥
भगवन ऐसे बन्दीजन भी, तेरे नाम-मंत्र की जाप।
जपकर गत-बन्धन हो जाते, क्षणभर में अपने ही आप॥४६॥

वृषभेश्वर के गुण स्तवन का, करते निशिदिन जो चिंतन।
भय भी भयाकुलित हो उनसे, भग जाता है हे स्वामिन॥
कुंजर-समर-सिंह-शोक-रुज, अहि दावानल कारागार।
इनके अति भीषण दुःखों का, हो जाता क्षण में संहार॥४७॥

हे प्रभु तेरे गुणोद्यान की, क्यारी से चुन दिव्य-ललाम।
गूंथी विविध वर्ण सुमनों की, गुण-माला सुन्दर अभिराम॥
श्रद्धा सहित भविकजन जो भी, कण्ठाभरण बनाते हैं।
मानतुङ्ग-सम निश्चित सुन्दर, मोक्ष लक्ष्मी पाते हैं॥४८॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता

श्री कुमुदचन्द्राचार्य

भक्तामरस्तोत्र के ही जोड़ का लोकप्रिय वसंततिलका छन्द में निबद्ध ''कल्याणमन्दिर स्तोत्र'' कुमुदचन्द्राचार्य की एक अमूल्य भक्तिरस से भरी रचना है। इसमें ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छन्द के एक पद्य से स्तोत्रकर्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है जिसे कुछ लोग सिद्धसेन नामसे भी मानते हैं। लगभग छठी शती की यह रचना होना मानी जाती है। दूसरे पद्य के अनुसार यह स्तोत्र २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर स्तोत्र के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओं और शब्द योजनाओं में मौलिक ही है। जिन स्तुति करते हुए आपने लिखा—हे जिनेन्द्र, आप इन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं ? हाँ जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह इसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे प्रभो ! अपने हृदय में धारण करने पर पापरूपी सर्प उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे मयूर की आवाज सुनते ही चन्दन पर लपटे सर्प ढीले पड़ जाते हैं। हे प्रभो ! आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र में देह को छोड़कर परमात्म को प्राप्त हो जाते हैं, क्यों न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएँ अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं।

कल्याणमंदिर स्तोत्रकी रचनाके पीछे जो इतिहास छिपा है उसका वर्णन लिखते हुए मंगलाष्टक स्तोत्रमें कविने लिखा है --

श्रीमत् कुमुदचन्द्र मुनिवरसों, वादपर्‌यो जहँ सभा मंझार।
तब ही श्री कल्याणधामथुति, श्री गुरु रचना रची अपार।।
तब प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ की, प्रकट भई त्रिभुवन जयकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघनहरण मंगल करतार।।

श्रीपार्श्वनाथाय नमः

तार्किकचक्रचूडामणि श्रीकुमुदचन्द्राचार्य अपरनाम श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचित

कल्याणमन्दिर स्तोत्र

(श्रीपार्श्वनाथ स्तोत्र)

(वसन्ततिलका छन्द)

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।। १ ।।
यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ।। २ ।।
(युग्मम्)

कविराज पं० गिरिधरजी शर्मा 'नवरत्न कृत नूतन हिन्दी-पद्यानुवाद

कल्याण-धाम भय-नाशक पापहारी,
त्यों है जहाज भव-सिन्धु पड़े जनों के।
निन्दाविहीन अति सुन्दर सौख्यकारी,
पादारविन्द प्रभु के नम के उन्हीं को ।। १ ।।
श्रीपार्श्वनाथ विभु का स्तव मैं रचूँगा,
जो नाथ हैं कमठ-विघ्न-विनाशकर्ता।
त्यों है अशक्त जिनके स्तव को बनाने,
अत्यन्त बुद्धिधन भी गुरु भी सुरों का ।। २ ।।

श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृतटीका

स्तवं चिकीर्षुकामो विघ्नविनिवृत्तये मंगलमाचरन्नाह

टीका—किलेति संभाव्यते। एषोऽहं कविस्तस्य जगत्प्रसिद्धस्य। जिनेश्वरस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थंकरपरमदेवस्य। अंघ्रिपद्मं चरणकमलं। अभिनम्य प्रणिपत्य। संस्तवनं सम्यक्स्तोत्रं। करिष्ये करिष्यामीत्यर्थः। कथम्भूतमंघ्रिपद्मं? कल्याणानां मांगल्यराशीनां मन्दिरं निकेतन-मित्यर्थः। अथवा पंचकल्याणानां स्थानमित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? उदारं नानासौख्यप्रदातृत्वात्। पुनः कथंभूतं? अवद्यं पापं भेदयतीति। पुनः कथंभूतं? भीतानां भयत्रस्तानां जन्तूनां अभयं जीवदानं प्रकर्षेण ददातीति। पुनः कथंभूतं? अनिंदितं प्रशस्यं सर्वामरपूजितत्वात्। पुनः कथं? संसारश्चतुर्गतिलक्षणः स एव संसारसमुद्रस्तत्र निमज्जंतश्च ते अशेषजन्तवः सर्वप्राणिनश्च तेषां पोतायते तत् पोतायमानं संसारसमुद्र-तारणे प्रवहणतुल्यमित्यर्थः। तस्य कस्य? यस्य तीर्थेश्वरस्य समस्त-तीर्थानां स्वामिनः। सुरगुरुर्बृहस्पतिः स्वयं स्तोत्रं विधातुं कर्तुं न विभुः न समर्थः। कथंभूतस्य यस्य गुरोर्भावः गरिमा तस्य अम्बुराशिः समुद्रस्तस्य। कथंभूतः सुरगुरुः? सुखेन वा सुतरां विस्तृता मतिर्यस्य सः। पुनः कथंभूतस्य तस्य कमठचरशंबरनामज्योतिष्कदेवस्य स्मयः गर्वस्तद्दलनाय धूमकेतुर्वह्निस्तस्य ॥युग्म् ॥१-२॥

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्रीकृत सान्वयार्थ और भाषा-टीका

अन्वयार्थ—(कल्याणमन्दिरम्) कल्याणोंके मन्दिर, (उदारम्) उदार[1] (अवद्यभेदि) पापों को नष्ट करने वाले, (भीताभयप्रदम्) संसारसे डरे हुए जीवों को अभयपद देनेवाले, (अनिन्दितम्) प्रशंसनीय और (संसारसागरनिमज्जदशेष-जन्तुपोतायमानम्) संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए समस्त जीवों के लिये जहाजके समान (जिनेश्वरस्य) जिनेन्द्र भगवान्‌के

---

१. दाता या महान् 'उदारं दातृमहतोः'।

(अङ्घ्रिपद्मम्) चरणकमलको (अभिनम्य) नमस्कार करके, गरिमाम्बुराशे: गौरवके समुद्रस्वरूप (यस्य) जिन पार्श्वनाथकी (स्तोत्रम् विधातुम्) स्तुति करनेके लिये (स्वयं सुविस्तृतमति:) खुद विस्तृत बुद्धिवाले (सुरगुरु:) बृहस्पति भी (विभु:) समर्थ (न अस्ति) नहीं है, (कमठस्मयधूमकेतो:) कमठका मान भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप (तस्य तीर्थेश्वरस्य) उन भगवान् पार्श्वनाथकी (किल) आश्चर्य है कि (एष: अहम्) मैं (संस्तवनम् करिष्ये) स्तुति करूँगा।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणकमलोंको नमस्कार कर मैं उन पार्श्वनाथस्वामीकी स्तुति करता हूँ, जो गुरुताके समुद्र थे, और कमठका मानमर्दन करनेवाले थे तथा बृहस्पति भी जिनकी स्तुति करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका था ।।१-२।।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशा: कथमधीश ! भवन्त्यधीशा: ।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मे: ।। ३ ।।

तेरा स्वरूप कुछ भी कहने समर्थ,
होवें प्रभो ! किस तरा मुझसे मनुष्य ?
हो धीठ भी किस तरा पर घूक बाल,
या घूक ही कह सके रविका सुरूप ।। ३ ।।

टीका—भो अधीश ! अस्मादृशा: पुमांस: । सामान्यतोऽपि सामान्याकारेणाऽपि । तव भगवत: । स्वरूपं वर्णयितुं यथावदाख्यातुं । कथमधीशा: समर्था भवंति । विशेषत: स्वरूपं वक्तुं कुत: समर्था: । यदि वा युक्तोऽयमर्थ: । किलेति सत्यं धृष्टोऽपि कौशिकशिशु: घूक: । दिवांध: सन् । धर्मरश्मे: सूर्यस्य स्वरूपं । किं प्ररूपयति ? अस्मादृशा: कवयस्तव निरंजनस्वरूपं वक्तुं क्षमा न भवंति । क इव घूक इव । यथा घूको दिनपते: सूर्यस्य किरणानि न प्ररूपयति । इति तात्पर्यार्थ: ।।३।।

अन्वयार्थ—(अधीश !) हे स्वामिन् ! (सामान्यतः अपि) साधारण रीतिसे भी (तव) तुम्हारे (स्वरूपम्) स्वरूपको (वर्णयितुम्) वर्णन करनेके लिये (अस्मादृशाः) मुझ जैसे मनुष्य (कथम्) कैसे (अधीशाः) समर्थ (भवन्ति) हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । (यदि वा) अथवा (दिवान्धः) दिनमें अन्धा रहनेवाला (कौशिकशिशुः) उलूकका बच्चा (धृष्ट अपि 'सन') धीठ होता हुआ भी (किम्) क्या (धर्मरश्मेः) सूर्यके (रूपम्) रूपका (वर्णयति किल) वर्णन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह उलूकका बालक सूर्यके रूपका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि जबतक सूर्य रहता है, तबतक वह अन्धा रहता है, इसी तरह मैं आपके सामान्य स्वरूपका भी वर्णन नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि मैं भी मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धा होकर आपके दर्शनसे वञ्चित रहा हूँ ।।३।।

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ।। ४ ।।

हैं जानता हृदय में गुण मोह छूटे-
तेरे भवी, गिन नहीं सकता परन्तु ।
कल्पान्त में जलधि के सब रत्न दीखें,
अन्दाज कौन सकता कर है उन्हों का ।। ४ ।।

टीका—भो नाथ ! भोः स्वामिन ! नूनं निश्चितं ! मर्त्यो मनुष्यः मोहक्षयात् मोहनीयकर्मविनाशात् । अनुभवन्नपि जानन्नपि । तव परमेश्वरस्य गुणान् । गणयितुं संख्याकर्तुं । न क्षमेत न समर्थो भवेत् । ननु युक्तोऽयमर्थो यस्मात्कारणात्केन पुंसा । जलधेः समुद्रस्य प्रकटोऽपि

रत्नराशिः । मीयते मानं कुर्वीत । कथंभूतस्य जलधेः ? कल्पान्तः प्रलयस्तेन वान्तानि बहिष्कृतानि पयांसि जलानि यस्य स तस्य ॥४॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे नाथ ! (मर्त्यः) मनुष्य (मोहक्षयात्) मोहनीयकर्मके क्षयसे (अनुभवन् अपि) अनुभव करता हुआ भी (तव) आपके (गुणान्) गुणोंको (गणयितुम्) गिननेके लिये (नूनम्) निश्चय करके (न क्षमेत) समर्थ नहीं हो सकता है। (यस्मात्) क्योंकि (कल्पांतवांतपयसः) प्रलय-कालके समय जिसका पानी बाहर हो गया है, ऐसे (जलधेः) समुद्रकी (प्रकटःअपि) प्रकट हुई भी (रत्नराशिः) रत्नोंकी राशि (ननु केन मीयते ?) किसके द्वारा गिनी जा सकती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह प्रलयकाल में पानी न होने से साफ-साफ दिखनेवाले समुद्रके रत्नों को कोई नहीं गिन पाता, उसी तरह मिथ्यात्वके अभावसे साफ-साफ दिखनेवाले आपके गुणोंको कोई नहीं गिन सकता। क्योंकि वे अनन्तानन्त हैं ॥४॥

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य ।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥ ५ ॥

तू है असंख्य गुण-शोभित मूढ़ हूँ मैं
तेरा तथापि रचने स्तव मैं खड़ा हूँ।
फैला भुजा स्वमति के अनुसार क्या है,
विस्तीर्णता न निधि की शिशु भी बताता ? ॥ ५ ॥

टीका—भो नाथ ! जडाशयोऽपि अहं । तव परमेश्वरस्य । स्तवं कर्तुमभ्युद्यतोस्मि । कथंभूतस्य तव ? लसन्तः शोभमानाः असंख्या ये गुणास्तेषामाकरस्तस्य । बालोऽपि स्वधिया बालस्वबुद्ध्या । निज बाहु-युगं वितत्य विस्तार्य । अम्बुराशेः समुद्रस्य । विस्तीर्णतां किं न कथयति न प्ररूपयति ? अपि तु प्ररूपयतीति तात्पर्यार्थः ॥५॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (जडाशयः अपि 'अहम्') मैं मूर्ख भी (लसदसंख्यगुणाकरस्य) शोभायमान असंख्यात गुणों की खानि स्वरूप (तव) आपके (स्तवम् कर्तुम्) स्तवन करनेके लिये (अभ्युद्यतः अस्मि) तैयार हुआ हूँ । क्योंकि (बालः अपि) बालक भी (स्वधिया) अपनी बुद्धिके अनुसार (निजबाहुयुगम्) अपने दोनों हाथोंको (वितत्य) फैलाकर (किम्) क्या (अम्बुराशेः) समुद्रके (विस्तीर्णताम्) विस्तारको (न कथयति) नहीं कहता ? अर्थात् कहता है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जैसे बालक शक्ति न रहते हुए भी समुद्र का विस्तार वर्णन करने के लिये तैयार रहता है, वैसे ही मैं भी आपकी स्तुति करनेके लिये तैयार हूँ ।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ।। ६ ।।

योगीश भी गिन नहीं सकते गुणों को,
तेरे प्रभो; फिर भला मम क्या चलाई ? ।
मेरी हुई यह मुनीश बिना विचारी,
या बोलते विहग भी अपनी गिरा से ।। ६ ।।

टीका—हे ईश ! ये तव गुणाः योगिनामपि वक्तुं न यांति न प्राप्नुवंति । तेषु गुणेषु ममावकाशः मम सामर्थ्यं कथं भवति । भो देव ततस्मात्कारणात् । एवमियमसमीक्षितकारिता जाता । अविचारितकार्यत्वं जातं । असमीक्षितस्य अविचारितस्य कारिता असमीक्षितकारिता । वा अथवा । ननु निश्चितं । पक्षिणोऽपि निजगिरा स्वकीयवाण्या जल्पन्ति भणंति । तथैवाहमपीति भावः ।।६।।

अन्वयार्थ—(ईश !) हे प्रभो ! (तव) आपके (ये गुणाः) जो गुण (योगिनाम् अपि) योगियोंको भी (वक्तुम्)

कहनेके लिये (न यान्ति) नहीं प्राप्त होते अर्थात् जिनका कथन योगीजन भी नहीं कर सकते (तेषु) उनमें (मम) मेरा (अवकाशः) अवकाश (कथम् भवति) कैसे हो सकता है ? अर्थात् मैं उन्हें कैसे वर्णन कर सकता हूँ ? (तत्) इसलिए (एवम्) इस प्रकार (इयम्) मेरा यह (असमीक्षितकारिता जाता) बिना विचारे काम करता हुआ (वा) अथवा (पक्षिणः अपि) पक्षी भी (निजगिरा) अपनी वाणी से (जल्पन्ति ननु) बोला करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका स्तवन आरम्भ करनेके पहले मैंने इस बातका विचार नहीं किया कि आपके जिन गुणोंका वर्णन बड़े-बड़े योगी भी नहीं कर सकते हैं, उनका वर्णन मैं कैसे करूँगा ? इसलिये हमारी यह प्रवृत्ति बिना विचारे हुई है ।।६।।

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।। ७ ।।

माहात्म्य तो स्तवनका तव है अचिन्त्य,
है नाम ही त्रिजगको भवसे बचाता ।
जो ग्रीष्म में पथिक आतप से सताये,
देती उन्हें सुख-सरोवर की हवा ही ।। ७ ।।

टीका—भो जिन ! ते तव । संस्तवः स्तवनं । आस्तां दूरे तिष्ठतु । कथंभूतः संस्तवः ? अचिन्त्यमहिमा अनिर्वचनीयमहिमा यस्य स इति अचिन्त्यमहिमा । भवतस्तव नामाऽपि अभिधानमपि । भवतः संसारात् । जगंति पाति रक्षति । निदाघे ग्रीष्मे । पद्मसरसः पद्ममंडिततडागस्य सरसः रसेन जलच्छटाभिः सह वर्तमानः । अनिलोऽपि वायुस्तीव्रः दुस्सहः स चासावातपस्तेन उपहता उपद्रुताश्च ते पांथा जनाश्च पथिकास्तान् प्रीणाति तर्पयति ।।७।।

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (अचिन्त्यमहिमा) अचिंत्य है माहात्म्य जिसका ऐसा (ते) आपका (संस्तवः) स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे, (भवतः) आपका (नाम अपि) नाम भी (जगन्ति) जीवों को (भवतः) संसार से (पाति) बचा लेता है। क्योंकि (निदाघे) ग्रीष्मकालमें (तीव्रातपोहतपान्थजनान्) तीव्र घामसे सत ते हुए पथिकजनों को (पद्मसरसः) कमलोंके सरोवरका (सरसः) सरस-शीतल (अनिलः अपि) पवन भी (प्रीणाति) सन्तुष्ट करता है।

भावार्थ—हे देव ! आपके स्तवनकी तो अचिन्त्य महिमा है ही, पर आपका नाममात्र भी जीवोंको संसारके दुखोंसे बचा लेता है। जैसे ग्रीष्मऋतु में घाम से पीड़ित मनुष्योंको, कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुँचाते ही हैं, पर उन सरोवरोंकी शीतल हवा भी सुख पहुँचाती है ।।७।।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ? शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः ।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ।। ८ ।।

तू लोक के हृदय में यदि हो विभो ! तो,
ढीले तुरन्त पड़ते दृढ़ कर्मबन्ध।
आया मयूर वन का कि भुजंग जैसे,
ढीले पड़ें तुरत चन्दन बन्ध छोड़ ।। ८ ।।

टीका—हे विभो ! त्वयि भगवति हृद्वर्तिनि सति चित्ते वर्तयति सति। जन्तोः प्राणिनः । निबिडा अपि कर्मबन्धाः क्षणेन क्षणमात्रेण । शिथिलीभवंति । हृदि वर्तत इत्येवंशीलः हृद्वर्ती तस्मिन् । कर्मणां बन्धाः कर्मबन्धाः अशिथिलाः शिथिला भवंतीति शिथिलीभवंति । के इव ? भुजंगममया बन्धा इव । यथा वनशिखण्डिनि वनमयूरे । चन्दनस्य मध्यभागमभ्यागते सति भुजंगममया बन्धा इव सद्यः तत्काले शिथिलीभवंति । भुजंगमप्रकारा भुजंगममयाः प्रकारे मयट् ।।८।।

अन्वयार्थ—(विभो !) हे स्वामिन् ! (त्वयि) आपके (हृद्वर्तिनि 'सति') हृदयमें मौजूद रहते हुए (जन्तोः) जीवों के (निबिडाः अपि) सघन भी (कर्मबन्धाः) कर्मोंके बन्धन, (क्षणेन) क्षणभरमें (वनशिखण्डिनि) वन मयूर के (चन्दनस्य मध्यभागम् अभ्यागते 'सति') चन्दन तरुके बीचमें आनेपर (भुजङ्गमयाः इव) सर्पों की कुण्डलियोंके समान (सद्यः) शीघ्र ही (शिथिलीभवन्ति) ढीले हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह मयूर के आते ही चन्दनके वृक्षमें लिपटे हुए साँप ढीले पड़ जाते हैं, उसी तरह जीवोंके हृदयमें आपके आनेपर उनके कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं ।।८।।

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ।। ९ ।।

त्यागें अवश्य सहसा तुझको विलोके,
लाखों उपद्रव महेश्वर ! मानवों को ।
तेजस्वि गोपति विलोकन मात्र से ही,
ज्यों चोर छोड़ भगते पशुवृन्दको हैं ।। ९ ।।

टीका—भो जिनेन्द्र ! त्वयि भगवति वीक्षिते सति । रौद्रैरपि उपद्रवशतैः उपसर्गकोटिभिः । मनुजाः सहसा मुच्यन्त एव विमुक्ता एव । कैरिव ? चौरैरिव । यथाः चौरैः गोस्वामिनि नृपे दृष्टमात्रे सति । आशुशीघ्रं । पशवः मुच्यंते । कथंभूते गोस्वामिनि ? स्फुरितुं प्रतापाक्रान्तं तेजो यस्य स तस्मिन् । कथंभूतैश्चौरैः । प्रकर्षेण पलायमानाः प्रपलायमानास्तैः शीघ्रं नश्यद्भिः ।।९।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (स्फुरिततेजसि) पराक्रमी (गोस्वामिनि) राजाके (दृष्टमात्रे) दिखते ही (आशु) शीघ्र ही (प्रपलायमानैः) भागते हुए (चौरैः) चोरों के द्वारा

(पशवः इव) पशुओं की तरह (त्वयि वीक्षिते अपि) आपके दिखते ही आपके दर्शन करते ही (मनुजाः) मनुष्य (रौद्रैः) भयङ्कर (उपद्रवशतैः) सैकड़ो उपद्रवों के द्वारा (सहसा एव) शीघ्र ही (मुच्यन्ते) छोड़ दिये जाते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह तेजस्वी राजा के दिखते ही चोर चुराई हुई गायों को छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी तरह आपके दर्शन होते ही भयङ्कर उपद्रव मनुष्यों को छोड़कर भाग जाते हैं ।।९।।

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ।।१०।।

तू तारता किस तरा भविमानवों को
वे ही तुझे हृदय में रख के तिराते ;
या वारिमें मसक जो तिरती विभो ! है,
है सो प्रभाव बस भीतर की हवा का ।। १० ।।

टीका---यत् यस्मात्कारणात् । त एव प्राणिनः भवाब्धे उत्तरन्तः सन्तो हृदयेन त्वां उद्वहन्ति तारयन्ति । अहमेवं सम्भावयामि भवः संसारः विद्यते येषां ते भविनस्तेषां भविनां । यद्वा युक्तोऽयमर्थः । यत् यस्मात्कारणात् दृतिश्चर्मभस्त्रिका जलं तरति । नूनं निश्चितं । किलेति सत्ये । एष अन्तर्गतस्य मरुतः पूरितस्य वायोरनुभावः प्रभावः ।।१०।।

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (त्वम् भविनाम् तारकः कथम्) आप संसारी जीवों को तारने वाले कैसे हो सकते हैं ? (यत्) क्योंकि (उत्तरन्तः) संसार-समुद्र से पार होते हुए (ते एव) वे संसारी जीव ही (हृदयेन) हृदय से (त्वाम्) आपको (उद्वहन्ति) तिरा ले जाते हैं (यद्वा) अथवा ठीक है कि (दृतिः) मसक (यत्) जो (जलम् तरति) पानी में तैरती है, (सः एषः)

वह (नूनम्) निश्चयसे (अन्तर्गतस्य) भीतर स्थित (मरुत:) हवाका ही (अनुभाव: किल) प्रभाव है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह भीतर भरी हुई वायु के प्रभाव से मसक पानी में तैरती है, उसी तरह आपको हृदय में धारण करने वाले (मन से आपका चिन्तवन करने वाले) पुरुष आपके ही प्रभाव से संसार-समुद्र से तिरते हैं ।।१०।।

यस्मिन्हर प्रभृतयोऽपि हतप्रभावा:
सोऽपि त्वया रतिपति: क्षपित: क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुज: पयसाथ येन
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन ।।११।।

जिस पै प्रभाव चलता न बड़े सुरों का,
तूने किया वश विभो ! उस काम को भी ।
देता बुझा सलिल सो सब वह्नियों को,
सो वाड़वाग्नि पर जोर चला न सकता ।। ११ ।।

टीका—भो पार्श्वनाथ ! यस्मिन् कामे हरिप्रभृतयोऽपि ब्रह्म-विष्णुमहेशादयो हतप्रभावा निरस्तशक्तयो जाता: सोऽपि रतिपति: कामस्त्वया क्षणेन क्षणमात्रेण क्षपितो ध्वस्त: । अथ युक्तोऽयमर्थ: । येन पयसा हुतभुजोऽग्नयो विध्यापिता निरस्तास्तदपि जलं दुर्द्धरवाडवेन दु:सहवाड-वाग्निना किं न पीतं ? अपि तु शोषितमित्यर्थ: ।।११।।

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसके विषय में (हरप्रभृतय: अपि) महादेव आदि भी (हतप्रभावा: जाता:) प्रभाव रहित हो गये हैं, (स:) वह (रतिपति: अपि) कामदेव भी (त्वया) आपके द्वारा (क्षणेन) क्षणमात्र में (क्षपित:) नष्ट कर दिया गया (अथ) अथवा ठीक है कि (येन पयसा) जिस जलने (हुतभुज: विध्यापिता:) अग्निको बुझाया है, (तत् अपि) वह जल भी (दुर्द्धरवाडवेन) प्रचण्ड वडवानलके द्वारा (किम्) क्या (न पीतम्) नहीं पिया गया ? अर्थात् पिया गया ।

भावार्थ—जिस कामने हरि, हर, ब्रह्मा आदि महापुरुषों को पराजित कर दिया था, उस काम को भी आपने पराजित कर दिया यह आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि जो जल संसार की समस्त अग्नि को नष्ट करता है, उस जलको भी बड़वानल नामक समुद्रकी अग्नि नष्ट कर डालती है ॥११॥

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना:
त्वां जन्तव: कथमहो हृदये दधाना: ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हंत महतां यदि वा प्रभाव: ॥१२॥

अत्यन्त गौरव विभो ! तुझमें दिखाता,
कैसे तुझे फिर धरें, हिय में मनुष्य—
संसार-सिन्धु तरते श्रम के बिना ही,
जाना प्रभाव नहिं जाय महाजनों का ॥१२॥

टीका—भो स्वामिन् ! अतुल्यगरिमाणमपि मानरहितगुरुत्व भाराक्रान्तमपि। त्वां प्रपन्ना: प्राप्ता जन्तव: अहो इत्याश्चर्ये। हृदये दधाना: सन्त:। लघु यथा स्यात्तथा। जन्मोदधिं भवार्णवं। अतिलाघवेन शीघ्रेण। कथं तरंति ? अन्यत् गुरुत्वाक्रान्तवस्तु हृदये दधाना: सन्त: प्राणिनोऽब्धौ निमज्जंति। त्वां गुरुत्वाक्रान्तं हृदये दधाना: सन्त: भवार्णवे तरंति तन्मम मनसि महच्चित्रं। यदि वा पक्षांतरे हंत इत्यहो महतां महानुभावानां परमपुरुषाणां प्रभावो लोकोत्तरो महिमा न चिन्त्य: नो विचारणीय इत्यर्थ: ॥१२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन् !) हे प्रभो ! (अहो) आश्चर्य है कि (अनल्पगरिमाणम् अपि) अधिक गौरव से युक्त भी विरोध पक्ष में—अत्यन्त वजनदार (त्वाम्) आपको (प्रपन्ना:) प्राप्त हो (हृदये दधाना:) हृदय में धारण करने वाले (जन्तव:) प्राणी (जन्मोदधिम्) संसार-समुद्र को (अतिलाघवेन) बहुत ही लघुतासे (कथम्) कैसे (लघु) शीघ्र (तरन्ति) तर जाते हैं।

(यदि वा) अथवा (हन्त) हर्ष है कि (महताम्) महापुरुषों का (प्रभाव:) प्रभाव (चिन्त्य:) चिन्तवन के योग्य (न 'भवति') नहीं होता है

भावार्थ—श्लोक में आये हुए 'अनल्पगरिमाणम्' पदके 'अधिक वजनदार' और 'अत्यन्त गौरव से युक्त'—श्रेष्ठ इस तरह दो अर्थ होते हैं। उनमें से आचार्य ने प्रथम अर्थ को लेकर विरोध बतलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया है, और दूसरे अर्थ को लेकर उस विरोध का परिहार किया है ।।१२।।

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौरा: ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ।।१३।।

तूने प्रभो ! प्रथम ही यदि रोष मारा,
मारे बता किस तरा फिर कर्म-चोर ?
या लोक में इस जगा नहिं क्या जलाता,
पाला सुशीतल, हरे तरु के वनों को ।। १३ ।।

टीका—भो विभो ! भो त्रिजगन्नाथ ! यदि चेत्त्वया भगवता । क्रोध: प्रथमं निरस्तो निराकृत: । तदा तर्हि । वदेति विस्मयावहम् । किलेति सत्ये । कर्मचौरा अष्टकर्मदस्यव: । कथं ध्वस्ता: निर्मूलिता: । कर्माण्येव चौरा: कर्मचौरा: । यदि वा युक्तोऽयमर्थ: । अमुत्र लोके । शिशिरापि शीतलापि । हिमानी हिमसंहति: । नीलद्रुमाणि विपिनानि किं न प्लोषति न दहति ? अपि तु प्लोषत्येव । नीला हरितो द्रुमा वृक्षा येषु तानि । प्लुष दाहे इत्यस्य धातो: प्रयोग: ।।१३।।

अन्वयार्थ—(विभो !) हे स्वामिन् ! (यदि) यदि (त्वया) आपके द्वारा (क्रोध:) क्रोध (प्रथमम्) पहले ही (निरस्त:) नष्ट कर दिया गया था, (तदा) तो फिर (वद) कहिये कि आपने (कर्मचौरा:) कर्मरूपी चोर (कथम्) कैसे (ध्वस्ता: किल) नष्ट

किये ? (यदि वा) अथवा (अमुत्र लोके) इस लोक में (हिमानी अपि) बर्फ-तुषार ठण्डा होने पर भी (किम्) क्या (नील-द्रुमाणि) हरे-हरे हैं वृक्ष जिनमें ऐसे (विपिनानि) वनों को (न प्लोषति) नहीं जला देता है ! अर्थात् जला देता है—मुरझा देता है ।

भावार्थ—लोक में ऐसा देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओं को जीतते हैं, पर भगवन् ! आपने क्रोध को तो नवमें गुणस्थान में ही जीत लिया था । फिर क्रोध के अभाव में चौद-हवें गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे जीता ? आचार्य ने इस लोकविरुद्ध बात पर पहले आश्चर्य प्रगट किया, पर जब बाद में उन्हें ख्याल आता है कि ठण्डा तुषार बड़े-बड़े वनों को क्षणभर में जला देता है, अर्थात् क्षमा से भी शत्रु जीते जा सकते हैं, तब वे अपने आश्चर्य का स्वयं समाधान कर लेते हैं ।।१३।।

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे ।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः ।।१४।।

स्वामिन ! सदा हृदय के बिच हेरते हैं,
योगीन्द्र भी तुझ परात्पर देवता को ।
क्या कर्णिका तज कहीं दुसरी जगा पै,
होता पवित्र अति निर्मल पद्म-बीज ? ।।१४।।

टीका—भो जिन ! योगिनः सर्वदा सर्वकाले । हृदयाम्बुज-कोशदेशे निजमनोऽम्बुजकोटरे । त्वां परमात्मरूपं चिदानन्दरूपं । अन्वेषयन्ति गवेषयन्ति । परं सर्वोत्कृष्टं मं ज्ञानं यस्य स चासावात्मा स एव रूपं स्वरूपं यस्य स तं । हृदयमेवाम्बुजं कमलं हृदयाम्बुजं तस्य कोशदेशस्तस्मिन् । यदि वा युक्तोऽयमर्थः ननु निश्चितं कर्णिकायाः सकाशात् अन्यत् पूतस्य निर्मलस्य अक्षस्य कमलबीजस्य । यत् स्थानं

किं सम्भवि सम्भवति ? अपि तु न सम्भवति । कथंभूतस्य अक्षस्य ? निर्मला रुचिर्यस्य स तस्य ॥१४॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (योगिनः) ध्यान करने वाले मुनीश्वर (सदा) हमेशा (परमात्मरूपम्) परमात्मास्वरूप (त्वाम्) आपको (हृदयाम्बुजकोशदेशे) अपने हृदयरूप कमल के मध्यभाग में (अन्वेषयन्ति) खोजते हैं, (यदि वा) अथवा ठीक है कि (पूतस्य) पवित्र और (निर्मलरुचेः) निर्मल कान्तिवाले (अक्षस्य) कमल के बीज का अथवा शुद्धात्मा का (सम्भवपदम्) उत्पत्ति स्थान अथवा खोज करने का स्थान (कर्णिकायाः अन्यत्) कमल की कर्णिका-डण्ठल को छोड़कर अथवा हृदय-कमल की कर्णिकाको छोड़कर (अन्यत् किम् ननु) दूसरा क्या हो सकता है ?

भावार्थ—बड़े-बड़े योगीश्वर ध्यान करते समय अपने हृदयकमल में आपको खोजते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे कमल बीज की उत्पत्ति कमल कर्णिकामें ही होती है, उसी तरह शुद्धात्मस्वरूप आपका सद्भाव भी हृदयकमल की कर्णिका में ही होगा । श्लोक में आये हुए अक्ष शब्द के 'कमलबीज कमल-गटा' और आत्मा (अक्ष्णाति-जानातीत्यक्षः = आत्मा) इस तरह दो अर्थ होते हैं ॥१४॥

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥१५॥

हे नाथ ! ध्यान करके भविलोक तेरा,
पाते तुरन्त तन छोड़ परेशता को ।
तीव्राग्नि-ताप-वश पत्थर भाव छोड़,
पाते सुवर्णपन धातु विशेष ज्यों है ॥१५॥

टीका—भो जिनेश ! भविन: प्राणिन: । **भवतो** ध्यानात् । क्षणेन क्षणमात्रेण । देहं शरीरं । विहाय समुत्सृज्य । **परमात्मदशां** परमात्मा-वस्थां **व्रजन्ति** प्राप्नुवन्ति । परमात्मनो दशा ताम् । क इव ? धातुभेदा इव । यथा धातुभेदा: सुवर्णोपला: लोके संसारे । तीव्रानलात् अत्यन्त-दु:सहाग्ने: सकाशात् । उपलभावं उपलत्वं । अपास्य विहाय । अचिरात् अचिरकालेन । चामीकरत्वं सुवर्णभावं गच्छन्ति । तीव्रश्चासौ अनलश्च तीव्रनलस्तस्मात् । चामीकरस्य भाव: चामीकरत्वम् ।।१५।।

अन्वयार्थ—(जिनेश !) हे जिनेन्द्र ! (लोके) लोक में (तीव्रानलात्) तीव्र अग्नि के सम्बन्ध से (धातुभेदा:) अनेक धातुएँ (उपलभावम्) पत्थर रूप पूर्व पर्याय को (अपास्य) (विहाय) छोड़कर (अचिरात्) शीघ्र ही (चामीकरत्वम् इव) जिस तरह सुवर्ण पर्यायको प्राप्त हो जाती हैं, उसी तरह (भविन:) संसार के प्राणी (भवत:) आपके (ध्यानात्) ध्यान से (देहम्) शरीर को छोड़कर (क्षणेन) क्षणभर में (परमात्म-दशाम्) परमात्मा की अवस्था को (व्रजन्ति) प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—जो जीव आपका ध्यान करते हैं, वे थोड़े ही समय में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं ।।१५।।

अन्त: सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं
भव्यै: कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावा: ।।१६।।

ध्याते सुभव्य तुझको जिसमें सदा ही,
कैसे विनाश करता उस देह का तू ?
मध्यस्थ का यह मनोहर रूप ही है,
या नाथ ! जो विकट विग्रह को नशावे ।। १६ ।।

टीका—हे जिन ! यस्य शरीरस्यान्तर्मध्ये । सदैव सर्वदा काले । भव्यं प्राणिभिस्त्वं । विभाव्यसे स्मर्यसे । तदपि शरीरं कथं नाशयसे ।

अथ पक्षे। हि युक्तोऽयमर्थः। हि यस्मात्कारणात्। मध्यविवर्तिनां प्राणिनां एतत् स्वरूपं एतत् किं ? यत् मध्यविवर्तिनो महानुभावाः विग्रहं कलहं पक्षे शरीरं। प्रशमयंति उपशमयंति। मध्ये विवर्तन्त इत्येवंशीलाः मध्यविवर्तिनः। महान् अनुभावः महिमा येषां ते महानुभावाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (भव्यैः) भव्य जीवों के द्वारा (यस्य) जिस शरीर के (अन्तः) भीतर (त्वम्) आप (सदैव) हमेशा (विभाव्यसे) ध्याये जाते हो (तत्) उस (शरीरम् अपि) शरीर को भी आप (कथम्) क्यों (नाशयसे) नष्ट करा देते हैं ? (अथ) अथवा (एतत्स्वरूपम्) यह स्वभाव ही है, (यत्) कि (मध्यविवर्तिनः) मध्यस्थ-बीच में रहने वाले और राग द्वेष से रहित (महानुभावाः) महापुरुष (विग्रहम्) विग्रहशरीर और द्वेषको (प्रशमयन्ति) शान्त करते हैं।

भावार्थ—लोक में रीति प्रचलित है कि जो जहाँ रहता है, अथवा जहाँ जिसका ध्यान-सम्मान आदि किया जाता है वह उस जगह का विनाश नहीं करता। पर भगवन् ! आप भव्य जीवोंको जिस शरीर में हमेशा सन्मानपूर्वक ध्याये जाते हैं, आप उन्हें उसी विग्रह (शरीर) को नष्ट करने का उपदेश देते हैं। आचार्यको पहले इस लोकविरुद्ध बात पर भारी आश्चर्य होता है। पर जब उनकी दृष्टि विग्रह शब्द के द्वेष अर्थ पर जाती है, तब उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। श्लोक में आये हुए विग्रह शब्द के दो अर्थ हैं—एक 'शरीर' और दूसरा 'द्वेष' इसी तरह 'मध्यविवर्तिनः' शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक 'बीचमें रहने वाला' और दूसरा 'राग द्वेष से रहित समताभावी' ॥१६॥

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किन्नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१७॥

तेरे समान जगदीश ! प्रभाववाला,
आत्मा बने भज तुझे तज भिन्नभाव ।
पीयूष भावधर मंत्रित वारि जो है,
सो दूर क्या न करता विषके विकार ? ।। १७ ।।

टीका—भो जिनेन्द्र ! मनीषिभिः पुंभिः अयं प्रमाणसिद्धः । आत्मा त्वदभेदबुद्ध्या त्वत्तः सकाशादभिन्नधिया । ध्यातः सन् इह लोके भवत्प्रभावो भवति । यादृशो भवत्प्रभावस्तादृशेन प्रभावेन युक्तो भवति । त्वत्सदृशो भवतीत्यर्थः । मनीषा बुद्धिर्विद्यते येषां ते तैः । त्वत्तः अभेदः ऐक्यं तस्य बुद्धिस्तया भवद्वत् प्रभावो यस्य सः । पानीयमपि अमृतं पीयूष इत्यनुमानं स्मर्यमाणं सत् नामेति निश्चितं । विषविकारं किमो अपाकरोति ? किं नो दूरीकरोति ? अपि तु करोतीत्यर्थः । विषस्य विकारो विषविकारस्तम् ।।१७।।

अन्वयार्थ—(**जिनेन्द्र !**) **हे जिनेन्द्र !** (**मनीषिभिः**) **बुद्धिमानों के द्वारा** (**त्वदभेदबुद्ध्या**) **'आपसे अभिन्न है' ऐसी बुद्धि से** (**ध्यातः**) **ध्यान से किया गया** (**अयम् आत्मा**) **यह आत्मा** (**भवत्प्रभावः**) **आप ही के समान प्रभाववाला** (**भवति**) **हो जाता है ।** (**अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानम्**) **यह अमृत है, इस तरह निरन्तर चिन्तवन किया जाने वाला** (**पानीयम् अपि**) **पानी भी** (**किम्**) **क्या** (**विषविकारम्**) **विषके विकार को** (**नो अपाकरोति नाम**) **दूर नहीं करता ? अर्थात् करता है ।**

भावार्थ—जो पुरुष अपने आपको आपसे अभिन्न अनुभव करता है अर्थात् जो सोचता है कि 'भगवन् ! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है, निश्चय नयसे हमारी आत्मा भी वैसी ही विशुद्ध है, किंतु वर्तमान में कर्मोदय से अशुद्ध हो रही है । यदि मैं भी आपके रास्ते पर चलने का प्रयत्न करूँ, तो मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जावेगी' । ऐसा सोचकर जो शुद्ध होने का प्रयत्न करता है, वह आपके ही समान शुद्ध हो जाता है । जैसे कि यह अमृत है, इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन किया गया पानी मन्त्रादि के संयोग से

अमृतरूप हो जाता है और विष के विकार को दूर करने लगता है ।।१७।।

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ।।१८।।

तू वीतराग विभु है, भजते तुझे ही,
नाना मती हरिहरादिक भाव से हैं।
हो दृष्टि-भेद जिनमें उनको विभो ! क्या,
है दीखता विविध रंगमय न शंख ? ।। १८ ।।

टीका—भो विभो ! नूनं निश्चितं । परवादिनोऽपि नैयायिकादयः । त्वामेव परमेश्वरं । हरिहरादिधिया ब्रह्माविष्णुमहेशसुगतादिबुद्ध्या ! प्रपन्नाः प्राप्ताः । ध्यायन्तीत्यर्थः । हरिनारायणो हर ईश्वर इत्यादीनां धीस्तया । कथंभूतं त्वां ? वीतं निराकृतं तमो येन स वीततमास्तं वीततमसं । परे च ते वादिनश्च पर वादिनः । भो ईश ! एतद्युक्तं काचकामलिभिः पुंभिः । सितोऽपि उज्ज्वलोऽपि शंखः । विविधवर्णविपर्ययेण नानाविधरक्तपीतादिवर्णभ्रांत्या । अन्यथारूपेण किं नो गृह्यते ? अपि तु गृह्यत एव । चक्षुषो भ्रान्तिकारी काचकामलरोगो विद्यते येषां ते तैः । विविधाश्च ते वर्णाश्च विविधवर्णास्तेषां विपर्ययस्तेन ।।१८।।

अन्वयार्थ–(विभो !) हे स्वामिन् ! (परवादिनः अपि) अन्यमतावलम्बी पुरुष भी (वीततमसम्) अज्ञान अन्धकार से रहित (त्वाम् एव) आपको ही (नूनम्) निश्चय से (हरिहरादिधिया) विष्णु, महादेव आदि की कल्पना से (प्रपन्नाः) प्राप्त होते हैं–पूजते हैं । (किम्) क्या (ईश !) हे विभो ! (काचकामलिभिः) जिनकी आँख पर रंगदार चश्मा है, अथवा जिन्हें पीलिया रोग हो गया है, ऐसे पुरुषों के द्वारा (शङ्ख सितः

अपि) शंख सफेद होने पर भी (विविधवर्णविपर्ययेण) तरह-तरह के विपरीत वर्णों से (नो गृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता ? अर्थात् किया जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह कामला (पीलिया) रोग वाला मनुष्य सफेद शंख को नाना प्रकार से ग्रहण करता है, उसी मिथ्यात्व के उदय से अन्य मतावलम्बी पुरुष आपको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि मानकर पूजते हैं ।।१८।।

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोक:
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोक: ।।१९।।

धर्मोपदेश करता जब तू, जनों की–
क्या बात नाथ ! बनता तरु भी अशोक ।
होता प्रकाश जब सूरज का नहीं क्या,
पाता प्रबोध तरुसंयुत जीवलोक ? ।। १९ ।।

टीका—भो परमेश्वर ! धर्मोपदेशसमये धर्मदेशनाकाले । तव परमेश्वरस्य । सविधानुभावात् सामीप्यप्रभावात् । जनो: लोक: । आस्तां तिष्ठतु । तरुरपि अशोको भवति शोकरहितो भवति । तत्र लोकोऽपि भवतीति किमाश्चर्यं इति भाव: । धर्मस्य उपदेशस्तस्य समय: दिव्यध्वनिकालस्तस्मिन् । सविधस्य अनुभाव: महिमा तस्मात् । वा युक्तोऽयमर्थ: दिनपतौ सूर्ये । अभ्युद्गते सति समन्तादुदिते सति । समहीरुहोऽपि वृक्षसहितोऽपि । जीवलोक: प्राणिवर्ग: । विबोधं ज्ञानं किं न उपयाति ? जाग्रदवस्थां किं न गच्छति ? अपि तु उपयातीत्यर्थ: । महीरुहै: सह वर्तमान: समहीरुह: ।।१९।।

अन्वयार्थ—(धर्मोपदेशसमये) धर्मोपदेश के समय (ते) आपकी (सविधानुभावात्) समीपता के प्रभाव से (जन: आस्ताम्) मनुष्य तो दूर रहे (तरु: अपि) वृक्ष भी (अशोक:)

अशोक = शोक रहित (भवति) हो जाता है । (वा) अथवा (दिनपतौ अभ्युद्‌गते 'सति') सूर्य के उदित होने पर (समहीरुहः अपि जीवलोकः) वृक्षों सहित समस्त जीवलोक (किम्) क्या (विबोधम्) विकाश = विशेष ज्ञान को (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते ? अर्थात् होते हैं ।

भावार्थ—इस श्लोक में अशोक शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक अशोक वृक्ष और दूसरा शोक रहित । इसी तरह विबोध शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक विशेष ज्ञान और दूसरा हराभरा तथा प्रफुल्लित होना । हे भगवन् ! जब आपके पास में रहने वाला वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तब आपके पास रहने वाला मनुष्य अशोक=शोक रहित हो जावे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? यह 'अशोक वृक्ष' प्रातिहार्य का वर्णन है ।।१९।।

चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः ।
त्वद्‌गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ।।२०।।

आश्चर्य किसतरा सुर-पुष्प-वृष्टि,
स्वामिन् ! निरन्तर अवाङ्मुख हो रही है ।
है या तुझे सुमन ये जब देख पाते,
जाते तभी सफल बन्धन नाथ ! नीचे ।। २० ।।

टीका—हे विभो ! सुरपुष्पवृष्टि अवाङ्मुखवृन्तमेव यथा स्यात्तथा विष्वक् समन्तात् कथं पतति ? एतन्महच्चित्रं अवाङ्मुखानि अधोमुखानि वृंतानि प्रसवबन्धनानि यत्र क्रियायां तत् वृंत प्रसवबन्धनमित्यमरः । सुराणां देवानां पुष्पवृष्टिः । न विरला अविरला निविडा चेत्यर्थः । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । नूनं निश्चितं । भो मुनीश ! सुमनसां प्राणिनां त्वद्‌गोचरे त्वत्सांनिध्ये । बन्धनानि अध एव गच्छन्ति । यथा-सुमनसां पुष्पाणां अधोमुखेन वृंतपतनं तथा बन्धनानि कर्मबन्धनान्यपि

सुमनसां प्राणिनां अधो गच्छन्तीति भावः । सुष्ठु मनो येषां ते सुमन-सस्तेषां । पुष्पं सुमनसं फुल्लमिति धनंजयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(विभो !) हे प्रभो ! (चित्रम्) आश्चर्य है कि (विश्वक्) सब ओर (अविरला) व्यवधान रहित (सुरपुष्प-वृष्टिः) देवों के द्वारा की हुई फूलों की वर्षा (अवाङ्मुखवृन्तम्) एवं ('यथा स्यात्तथा') नीचे को बन्धन करके ही (कथम्) क्यों (पतति) पड़ती है ? (यदि वा) अथवा ठीक है कि (मुनीश !) हे मुनियों के नाथ ! (त्वद्गोचरे) आपके समीप (सुमनसाम्) पुष्पों अथवा विद्वानों के (बन्धनानि) डंठल अथवा कर्मों के बन्धन (नूनम् हि) निश्चय से (अधः एव गच्छन्ति) नीचे को ही जाते हैं ।

भावार्थ—इस श्लोक में सुमनस् शब्द के दो अर्थ हैं—एक फूल और दूसरा विद्वान् या देव । इसी तरह बन्धन शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक फूलों का बन्धन-डण्ठल और दूसरा कर्मों के प्रकृति आदि चार तरह के बन्ध । हे भगवन् ! जो आपके पास रहता है, उसके कर्मों के बन्धन नीचे चले जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं । इसीलिये तो आपके ऊपर जो फूलों की वर्षा होती है, उनमें फूलों के बन्धन नीचे होते हैं और पाँखुरी ऊपर । यह 'पुष्पवृष्टि' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२०॥

स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति ।
पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

तेरी गिरा अमृत है। यह जो कहाता,
है योग्य क्योंकि हृदयोदधि से उठी है-
पीके तथा मद भरे जन भी उसे हैं,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम ॥ २१ ॥

टीका—भो प्रभो ! तव परमेश्वरस्य । गिरः दिव्यध्वनयः । पीयूषतां अमृतभावं । समुदीरयन्ति जना गिरोऽमृतमयाः कथयन्ति । पीयूषस्य भावः पीयूषता तां । एतत् स्थाने इति युक्तं । कुतः यतः कल्याणात् । भव्याः प्राणिनः । या अमृतमया गिरः पीत्वा । तरसापि वेगेन । अजरामरत्वं व्रजन्ति अजरामरस्य भावः अजरामरत्वं । कीदृशाः भव्याः ? परमः सर्वोत्कृष्टः न चासौ संमदः आनंदस्तत्संगं संयोगं भजन्ते इत्येवंशीलाः । कथंभूता गिरः ? गम्भीरं च तत् हृदयं च तदेव उदधिः समुद्रः तस्मात्सम्भवः उत्पत्तिर्यासां ताः ।।२१।।

अन्वयार्थ—(गभीरहृदयोदधिसंभवायाः) गम्भीर हृदयरूपी समुद्र में पैदा हुई (तव) आपकी (गिरः) वाणी के (पीयूषताम्) अमृतपने को लोग (स्थाने) ठीक ही (समुदीरयन्ति) प्रकट करते हैं । (यतः) क्योंकि (भव्याः) भव्य जीव ('ताम्' पीत्वा) उसे पीकर (परमसंमदसङ्गभाजः 'सन्तः') परम सुख के भागी होते हुए (तरसा अपि) बहुत ही शीघ्र (अजरामरत्वम्) अजर-अमरपने को (व्रजन्ति) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—लोक में प्रचलित है कि अमृत गहरे समुद्र से निकला था और उसका पान करने से देव लोग आनन्दित होते हुए अजर=बुढ़ापा रहित तथा अमर=मृत्यु रहित हो गये थे । भगवन् ! आपकी वाणी भी आपके गंभीर हृदयरूपी समुद्र से पैदा हुई है, और उसके सेवन करने से लोक परम सुखी हो अजर-अमर हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं । ऐसी हालत में लोग यदि यह कहें कि आपकी वाणी अमृत है, तो ठीक ही कहते हैं । यह 'दिव्यध्वनि' प्रातिहार्य का वर्णन है ।।२१।।

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ।।२२।।

हे नाथ ! पूर नभ के उड़ते हुए ये:
मानो यही कह रहे सुर चामरौघ–
"जो हैं प्रणाम करते इस नाथ को हैं,
वे शुद्ध भाव बन के गति उच्च पाते" ॥२२॥

टीका—भो स्वामिन् ! अहं एवं मन्ये इति सम्भावयामि । इतीति किं ? शुचय उज्ज्वला: । सुरचामरौघा देवानां चतु:षष्टिचामरयुग्मानि । सुदूरं अतिसमीपं । यथा स्यात्तथा अवनम्य अल्पं मस्तकोपरि निपत्य । समुत्पतन्त: सन्त: । इति वदन्ति इति भणंति । इतीति किं ? ये पुरुषा अस्मै मुनिपुंगवाय समवसरणविराजमानतीर्थंकरश्रीपार्श्वनाथाय । नतिं नमस्कारं । विदधते कुर्वते । ते भव्या: नूनं खलु इति सत्ये । शुद्धभावा: सन्त: ऊर्ध्वगतयो भवंति । यथा वयं चामरौघा:अवनम्रा: सन्त: ऊर्ध्वगतयस्तथा भवंत: अपि भवंति । शुद्धभाव: सम्यक्त्वं येषां ते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे प्रभो ! (मन्ये) मैं मानता हूँ कि (सुदूरम्) नीचे को बहुत दूर तक (अवनम्य) नम्रीभूत होकर (समुत्पतन्त:) ऊपर को आते हुए (शुचय:) पवित्र (सुरचामरौघा:) देवों के चमर-समूह (वदन्ति) लोगों से कह रहे हैं कि (ये) जो (अस्मै मुनिपुङ्गवाय) इन श्रेष्ठ मुनि को (नतिम्) नमस्कार (विदधते) करते हैं, (ते) वे (नूनम्) निश्चय से (शुद्धभावा:) विशुद्ध परिणाम वाले होकर (ऊर्ध्वगतय:) ऊर्ध्वगति वाले ('भवन्ति' खलु) हो जाते हैं, अर्थात् स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब देव लोग आप पर चँवर ढोरते हैं, तब वे चँवर पहले नीचे की ओर झुकते हैं और बाद में ऊपर को जाते हैं, सो मानों लोगों से यह कहते हैं कि भगवान् को झुककर नमस्कार करने वाले पुरुष हमारे समान ही ऊपर को जाते हैं, अर्थात् स्वर्ग मोक्ष को पाते हैं । यह 'चमर' प्रातिहार्य का वर्णन है ॥२२॥

श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ।।२३।।

तू श्याम है, तव गिरा सुगभीर, तेरा–
सिंहासन प्रचुर रत्न-सुवर्णवाला ।
देखे तुझे प्रणयि भव्य मयूर नीके,
मानो सुमेरु-सिरपै नव मेघ गाजे ।। २३ ।।

टीका—भो विभो ! भव्यशिखण्डिनः भव्यलक्षणाः शिखण्डिनो मयूराः इह लोके त्वां । रभसेन वेगेन । आलोकयंति । भव्या एव शिखण्डिनः भव्यशिखण्डिनः । कीदृशं त्वां ? गभीरा तत्त्वार्थ अत्यन्तमगाधा धीर्यस्य स तं । पुनः कीदृशं त्वां ? उज्ज्वलैर्निर्मलैर्हेम-रत्नैः खचिते सिंहासने तिष्ठतीति तं । पुनः कीदृशं त्वां ? चामीकराद्रि-शिरसि मेरोः शृंगे । उच्चैर्नदन्तं नवाम्बुवाहमिव नवमेघमिवोत्प्रेक्षा । चामीकराद्रेः शिरस्तस्मिन् । नवश्चासौ अम्बुवाहश्च तम् ।।२३।।

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में (श्यामम्) श्याम वर्ण (गभीरगिरम्) गम्भीर दिव्यध्वनि युक्त और (उज्ज्वलहेमरत्न-सिंहासनस्थम्) निर्मल सुवर्ण के बने हुए रत्नजड़ित सिंहासन पर स्थित (त्वाम्) आपको (भव्यशिखण्डिनः) भव्य जीवरूपी मयूर (चामीकराद्रिशिरसि) सुवर्णमय मेरुपर्वत की शिखर पर (उच्चैः नदन्तम्) जोर से गर्जते हुए (नवाम्बुवाहम् इव) नूतन मेघ की तरह (रभसेन) उत्कण्ठापूर्वक (आलोकयन्ति) देखते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह सुवर्णमय मेरु पर्वत उमड़े हुए गर्जना करने वाले काले मेघ को देखकर मयूरों को बहुत ही आनन्द होता है, उसी तरह दिव्यध्वनि करते हुए तथा सोने के सिंहासन पर विराजमान श्यामवर्ण वाले आपके दर्शन कर भव्यजीवों को अत्यन्त आनन्द होता है । उनका मन मयूर की तरह नाचने लगता है । यह 'सिंहासन' प्रातिहार्य का वर्णन है ।।२३।।

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।
सांनिध्यतोऽपि यदि तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ।।२४।।

भामंडल प्रबल जो तव नाथ ! फैला,
भाया अशोक तरु पत्र छटा लुटाके ।
तेरे समीप रह चेतन कौन है जो,
हे वीतराग ! धर ले न विरक्तता को ? ।। २४ ।।

टीका—भो वीतराग ! अशोकतरुः । तव भगवतः । उद्गच्छता उदीयमानेन शितिद्युतिमण्डलेन उज्ज्वलभामण्डलेन । लुप्तच्छदानां पत्राणां छविः शोभा । यस्य स एवंविधो बभूव । शिति च तद्द्युतिमण्डलं च शितिद्युतिमण्डलं तेन । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । तव सांनिध्यतोऽपि । कः सचेतनोऽपि सुज्ञोऽपि । नीरागतां रागेच्छारहिततां न व्रजति ? अपि तु व्रजतीत्याशयः । चेतनेन सह वर्तमानः सचेतनः ।।२४।।

अन्वयार्थ—(उद्गच्छता) स्फुरायमान (तव) आपके (शितिद्युतिमण्डलेन) श्याम प्रभामण्डल के द्वारा (अशोकतरुः) अशोकवृक्ष (लुप्तच्छदच्छविः) कान्तिहीन पत्रोंवाला (बभूव) हो गया, (यदि वा) अथवा (वीतराग !) हे राग-द्वेष रहित देव ! (तव सान्निध्यतः अपि) आपकी समीपता मात्र से ही (कः सचेतनः अपि) कौन पुरुष सचेतन होकर भी (नीरागताम्) राग ललाई से रहितपने अथवा अनुराग के अभाव को (न व्रजति) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् प्राप्त होता है ।

भावार्थ—यह भामण्डल' प्रातिहार्य का वर्णन है । हे भगवन् ! आपकी श्यामल कान्ति के संसर्ग से अशोक वृक्ष की लालिमा दब गई, सो ठीक ही है वीतराग (ललाई सहित, दूसरे पक्ष में स्नेह रहित) के समीप से कौन सचेतन-प्राणी वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्ष में स्नेह रहित) नहीं हो जाता ? अर्थात्

सभी हो जाते हैं। इस श्लोक में राग पद दो अर्थों वाला है—अनुराग-प्रेम-स्नेह और दूसरा लालिमा-ललाई ।।२४।।

भोः भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
माऽगत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम् ।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय
मध्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ।।२५।।

जीवों ! प्रमाद तज दो, भज ईश को लो,
है मार्ग-दर्शक, यहाँ बस पास आओ।
ये बात तीन जगको बतला रहा है
आकाश बीच सुर-दुन्दुभि-नाद तेरा ।। २५ ।।

टीका—भो देव ! अहं एवं मन्ये एवं सम्भावयामि। ते तव। सुरदुन्दुभिः देवपटहः। अभिनभः नभः समन्तात्। नदन्। जगत्त्रयाय त्रैलोक्याय एतन्निवेदयति। सुराणां दुन्दुभिः सुरदुन्दुभिः। एतत् किं ? भो भो जनाः प्रमादं अवधूय आलस्यं परित्यज्य। आगत्य समेत्य। एनं श्रीपार्श्वनाथं। भजध्वं सेवध्वं। कथंभूतं एवं ? निवृतिपुरी प्रति सार्थ-वाहम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(देव !) हे देव ! (मन्ये) मैं समझता हूँ कि (अभिनभः) आकाशमें सब ओर (नदन्) शब्द करती हुई (ते) आपकी (सुरदुन्दुभिः) देवोंके द्वारा बजाई गई दुन्दुभि (जगत्त्रयाय) तीन लोकोंके जीवोंको (एतत् निवेदयति) यह सूचित कर रही है कि (भोः भोः) रे रे प्राणियों ! (प्रमादम् अवधूय) प्रमादको छोड़कर (निर्वृतिपुरीम् प्रति सार्थवाहम्) मोक्षपुरीको ले जानेमें अगुवा (एवं) इन भगवान्को (आगत्य) आकर (भजध्वम्) भजो।

भावार्थ—हे प्रभो ? आकाशमें जो देवोंका नगाड़ा बज रहा है, वह मानों तीन लोकके जीवों को चिल्ला-चिल्लाकर सचेत कर रहा है कि जो मोक्षनगरीकी यात्राके लिए जाना चाहते हैं, वे

प्रमाद छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथकी सेवा करें। यह "दुन्दुभि" प्रातिहार्यका वर्णन है ।।२५।।

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः ।
मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ।।२६।।

तेरे प्रकाशित किये जग में हुआ है,
तारा समेत अधिकार-विहीन चन्द्र ।
मुक्ता-कलाप-परिशोभित-छत्ररूप-
हो, तीन देह धरके तव पास आया ।। २६ ।।

टीका—भो नाथ ! अयं तारान्वितो नक्षत्रग्रहतारकान्वितो विधुश्चन्द्रः ध्रुवं निश्चितं। अभ्युपेतः समेतः केषु सत्सु। भवता परमेश्वरेण। भुवनेषु त्रैलोक्येषु। उद्योतितेषु सत्सु। कथंभूतोऽयं ? विहतः अधिकारो येन सः। पुनः कथंभूतोऽयं ? मुक्तानां कलापः समूहस्तेन कलितं सहितं उल्लसितं शोभायमानं च तत् आतपत्रं च तस्य व्याज मिषं। तत्तस्मात् त्रिधा धृततनुः शरीरं येन सः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (भवता भुवनेषु उद्योतितेषु 'सत्सु') आपके द्वारा तीनों लोकोंके प्रकाशित होनेपर (विहताधिकारः) अपने अधिकारसे भ्रष्ट तथा (मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात्) मोतियोंके समूहसे सहित अतएव शोभायमान सफेद छत्रके छलसे (तारान्वितः) ताराओं से वेष्टित (अयम् विधुः) यह चन्द्रमा (त्रिधा धृततनुः) तीन-तीन शरीर धारण कर (ध्रुवम्) निश्चयसे ('त्वाम्' अभ्युपेतः) आपकी सेवाओंमें प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जब आपने अपनी कांति व ज्ञानसे तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया तब मानों चन्द्रमाका प्रकाश करने रूप अधिकार छीन लिया गया। इसलिए वह तीन छत्रका वेष

धरकर आपकी सेवा में अपना अधिकार वापिस चाहनेके लिये उपस्थित हुआ है। छत्रोंमें जो मोती लगे हुए हैं, वे मानों चन्द्रमाके परिवार-स्वरूप तारागण हैं। यह 'छत्रत्रय' प्रातिहार्य का वर्णन है ।।२६।।

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ।।२७।।

चाँदी, सुवर्ण, मणि-माणिक के बनाये,
हैं तीन कोट भगवन्! चहुँ ओर तेरे।
कीर्ति-प्रताप द्युति के समुदाय ने ही,
मानो विभो! त्रिजगती तल छा दिया है ।। २७ ।।

टीका—भो भगवन्! शालत्रयेण प्राकारत्रयेण। त्वं अभितः समन्तात्। विभासि शोभसे। कथंभूतेन सालत्रयेण? माणिक्यानि च हेमानि च रजतानि च माणिक्यहेमरजतानि तैः निर्मितं तेन। केनेव कांतिप्रतापयशसां संचयेनेव। यथा स्वेन कांतिप्रतापयशसां संचयेन त्वं विभासि। कांतिश्च प्रतापश्च यशश्च कांतिप्रतापयशांसि तेषां। कथंभूतेन संचयेन? प्रपूरितं च जगत्त्रयं च प्रपूरितजगत्त्रयं प्रपूरित-जगत्त्रयेण पिंडितः एकीभूतस्तेन। इति तात्पर्यार्थः ।।२७।।

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! आप (अभितः) चहुँ ओर (प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन) भरे हुए जगत्त्रयके पिण्ड अवस्थाको प्राप्त (स्वेन कान्तिप्रतापयशसाम् सञ्चयेन इव) अपने कान्ति प्रताप और यशके समूहके समान शोभायमान (माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन) माणिक्य, सुवर्ण और चाँदीसे बने हुए। (सालत्रयेण) तीनों कोटोंसे (विभासि) शोभायमान होते हो।

भावार्थ—हे भगवन्! समवसरण भूमिमें जो आपके चारों

और माणिक्य, सुवर्ण और चाँदी के बने हुए तीन कोट हैं, वे मानों आपकी कान्ति, प्रताप और यशका समूह है, जो कि तीनों जगत्‌में फैलकर पिण्डरूप हो गया है।

दिव्यस्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ।।२८।।

देव प्रणाम करते तव दिव्यमाला,
रत्नों जड़े मुकुट को तजके उन्होंने के-
तेरा पदाश्रय करे, रमते नहीं हैं-
अन्यत्र या सुमन पाकर संग तेरा ।। २८ ।।

टीका—भो जिन ! दिव्यस्रज: मनोज्ञपुष्पमाला: । नमत्त्रिदशाधिपानां प्रणमत्त्रिदशेन्द्राणां । रत्नरचतानपि मौलिबन्धान् रत्नखचितान् किरीटान् । उत्सृज्य । भवत: परमेश्वरस्य । पादौ श्रयंति । नमन्तश्च ते त्रिदशाधिपाश्च तेषां । रत्नै: रचितास्तान । मौलिनां बन्धा: मौलिबन्धास्तान् । यदि वा युक्तोऽयमर्थ: । सुमनस: प्राणिन: । त्वत्संगमे त्वत्समीपे । सति परत्र अन्यत्र । न रमन्त एव । इति स्थूलार्थ: ।।२८।।

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (दिव्यस्रज:) दिव्य पुरुषों की मालाएँ (नमत्त्रिदशाधिपानाम्) नमस्कार करते हुए इन्द्रों के (रत्नरचितान् अपि मौलिबन्धान्) रत्नोंसे बने हुए मुकुटोंको भी (विहाय) छोड़कर (भवत: पादौ श्रयन्ति) आपके चरणों का आश्रय लेती हैं । (यदि वा) अथवा ठीक है कि (त्वत्सङ्गमे 'सति') आपका समागम होने पर (सुमनस:) पुष्प अथवा विद्वान् पुरुष (अपरत्र) किसी दूसरी जगह (न एव रमन्ते) नहीं रमण करते हैं ।

भावार्थ—श्लोक में आये हुए सुमनस् शब्द के दो अर्थ हैं—

एक पुष्प और दूसरा विद्वान् पुरुष। हे भगवन्! नमस्कार करते समय देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई फूलोंकी मालाएँ जो आपके चरणोंमें गिर जाती हैं, मानों वे पुष्प-मालाएँ आपसे इतना अधिक प्रेम करती हैं, कि उनके पीछे देवोंके रत्नोंसे बने हुए मुकुटों को छोड़ देती हैं। सुमनस् = फूलोंका (दूसरे पक्षमें विद्वानोंका) आपमें अगाध प्रेम होना उचित ही है। श्लोकका तात्पर्य यह है कि आपके लिए बड़े-बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं ।।२८।।

त्वं नाथ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिवनृपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो! यदसि कर्मविपाकशून्यः ।।२९।।

हे नाथ! तू विमुख जन्म समुद्र से हो,
पीछे पड़े मनुजके गण को तिराता।
है योग्य बात तुझ पार्थिव को अहो पै,
तू है प्रभो! सकल-कर्म-विपाक-शून्य ।। २९ ।।

टीका—भो नाथ! त्वं जन्मजलधेः भवसमुद्रात् विपराङ्मुखोपि सन् निजपृष्ठलग्नान् असुमतः प्राणिनः यत्तारयसि हि निश्चितं तवैव सतो विद्यमानस्य पार्थिवनृपस्य राजाधिराजस्य त्रिजगत्स्वामिनः युक्तं। हे विभो! यत्कर्मविपाकशून्योऽसि तच्चित्रं। यः कोऽपि तारयति स फलं वांछति तव क्वाऽपि वांछा न। अथवा यः कोऽपि कार्यं किमपि करोति तस्य शुभाशुभकर्मबन्धो भवति तव सोऽपि नास्तीति चित्रं महदाश्चर्यं। पार्थिवनृपस्य घटस्य जलधेः विपराङ्मुखतारकत्वं युक्तं तस्य घटस्य कर्मविपाकशून्यता नास्ति। स तु घटः कर्मविपाकसहितः। जन्मैव जलधिस्तस्मात्। निजपृष्ठलग्नांस्तान्। पार्थिवानां नृपः स्वामी तस्य। घटपक्षे पृथिव्यां अयं पार्थिवः। नॄन् मनुष्यान्। जलदानेन पातीति नृपः। पार्थिवश्चासौ नृपश्च पार्थिवनृपस्तस्य। कर्मणां बन्धः अष्टकर्मणां

विपाक उदयस्तेन शून्यः । घटपक्षे कर्मवह्निपाकः पचनं तेन शून्यो न । अत्र श्लेषालंकारः ।। २९ ।।

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (त्वम्) आप (जन्म-जलधेः) संसाररूप समुद्रसे (विपराङ्मुखः अपि सन्) पराङ्मुख होते हुए भी (यत्) जो (निजपृष्ठलग्नान्) अपने पीछे लगे हुए अनुयायी (असुमतः) जीवों को (तारयसि) तार देते हो, ('तत्') वह (पार्थिवनृपस्य सतः) राजाधिराज अथवा मिट्टी के पके हुए घड़े की तरह परिणमन करने वाले (तव) आपको (युक्तम् एव) उचित ही है। परन्तु (विभो !) हे प्रभो ! (तत् चित्रम्) वह आश्चर्यकी बात है (यत्) जो आप (कर्मविपाक-शून्यः असि) कर्मोंके उदयरूप पाक क्रियासे रहित हो ।

भावार्थ—जिस तरह घड़ा पानीमें अधोमुख होकर अपनी पीठ पर स्थित लोगोंको नदी-नाले आदिसे पार कर देता है । उसी तरह आप यद्यपि राग न होनेसे संसार-समुद्रसे पराङ्मुख रहते हैं, तथापि अपने अनुयायियोंको उससे पार लगा देते हैं—मोक्ष प्राप्त करा देते हैं । पर जब घड़ा अग्निसे पकाया हुआ हो तभी पानी में तैर कर दूसरों को पार करता है । कच्चा घड़ा पानीमें गल कर घुल जाता है । किन्तु आप पाक रहित हो, यह आश्चर्य की बात है । उसका परिहार यह है कि, आप कर्मोंके उदय से रहित हैं । श्लोक में आये हुए विपाक शब्दके दो अर्थ हैं—आगसे किसी कोमल मिट्टीकी वस्तुका कठोर होना और कर्मोंका उदय आना ।।२९।।

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं
किंवाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश !
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः ।।३०।।

विश्वेश है तदपि दुर्गत नाथ ! है तू,
है अक्षरप्रकृति भी अलिपि प्रभो ! तू,
अज्ञान है कुछ तथापि फुरे सदा ही,
सुज्ञान नाथ ! तुझमें जग का विकाशी ।। ३० ।।

टीका—जनान् पालयतीति जनपालकः तस्यामन्त्रणे हे जन-पालक ! त्वं विश्वेश्वरोऽपि त्रैलोक्यनाथोऽपि सन् दुर्गतः किं दरिद्रः कथमिति विरोधः शब्दतः । द्रष्टुं ज्ञातुमशक्यं गतं यस्य सः । वा अथवा भो ईश ! भो विभो ! त्वं अक्षरप्रकृतिरपि वर्णस्वरूपोऽपि अलिपिः कथं । अक्षरा अविनश्वरा प्रकृतिः स्वभावो यस्य सः । न विद्यते लिपिर्मोहो यस्य सः । यः अक्षरः प्रकृति क्षरतीति क्षरः न क्षरतीति अक्षरः सो लिपिर्न भवति । इति शब्दतो विरोधः नार्थतः । भो जिन ! त्वयि सदैव अज्ञानवत्यपि सति ज्ञानरहितेऽपि सति कथंचिदेव विश्वविकासहेतुशनं स्फुरति । योऽज्ञानवांस्तस्मिन् ज्ञानं क्वेति शब्दतो विरोधः नार्थतः । अज्ञान्प्राणिनोऽवतीति तस्मिन् । विश्वेषां विकाशः प्रकटीकरणं तस्य हेतुर्निदानं ।।३०।।

अन्वयार्थ—(जनपालक) हे जीवों के रक्षक ! (त्वम्) आप (विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः) तीन लोक के स्वामी होकर भी दरिद्र हैं, (किं वा) और (अक्षरप्रकृतिः अपि त्वम् अलिपिः) अक्षरस्वभाव होकर भी लेखनक्रिया से रहित हैं । (ईश) हे स्वामिन् ! (कथंचित्) किसी प्रकार से (अज्ञानवति अपि त्वयि) अज्ञानवान् होने पर भी आपमें (विश्वविकासहेतु ज्ञानम् सदा एव स्फुरति) सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान हमेशा स्फुरायमान रहता है ।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है । विरोधाभास अलङ्कार में शब्द के सुनते समय तो विरोध मालूम होता है पर अर्थ विचारने पर बाद में उसका परिहार हो जाता है । जहाँ इस अलङ्कार का मूल श्लेष होता है, वहाँ बहुत ही अधिक चमत्कार पैदा हो जाता है । देखिये—भगवन् ! आप विश्वेश्वर होकर भी

दुर्गत हैं। यह पूरा विरोध है। भला, जो जगत् का ईश्वर है, वह दरिद्र कैसे हो सकता है ? विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत=कठिनाई से जाने जा सकते हैं। इसी तरह आप अक्षरप्रकृति—अक्षर स्वभाव वाले होकर भी अलिपि लिखे नहीं जा सकते। यह विरोध है। जो क, ख आदि अक्षरों जैसा है, वह लिखा क्यों न जावेगा ? परन्तु दोनों शब्दों का श्लेष विरोध को दूर कर देता है। आप अक्षरप्रकृति—अविनश्वर स्वभाव वाले होकर भी अलिपि= आकार रहित हैं—निराकार हैं। इसी प्रकार अज्ञानवति अपि अज्ञान युक्त होने पर भी आपमें विश्वविकाशि ज्ञानं स्फुरति संसार के सब पदार्थों को जानने वाला ज्ञान स्फुरायमान होता है, यह विरोध है। जो अज्ञानयुक्त है, उसमें पदार्थों का ज्ञान कैसा ? पर इसका भी नीचे लिखे अनुसार परिहार हो जाता है—अज्ञान अवति अपि त्वयि—अज्ञानी मनुष्यों की रक्षा करने वाले आपमें हमेशा केवलज्ञान जगमगाता रहता है ॥३०॥

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

आँधी चलाय रजशैल उड़ा-उड़ाके,
जो क्रोध से कमठ ने नभ छा दिया है।
तेरी न छाँह तक नाथ ! छुई इन्होंने,
उल्टा उसी कुटिल को घबरा लिया है ॥ ३१ ॥

टीका—भो नाथ ! शठेन मूर्खेण। कमठेनेति कमठचरसंवरनाम ज्योतिष्कदेवेन। रोषात् पूर्वोपार्जितवैरात्। यानि रजांसि उत्थापितानि तैः। स्वरजोभिः तव भगवतश्छायापि प्रतिबिम्बमपि न हतं न स्पृष्टं। अपि तु परं केवलं अमीभिः अयमेव पापीयान् कमठ एव ग्रस्तः मलिनीकृतः। कथंभूतोऽयं ? हता आशा यस्य स हताशः। प्राग्भारेण सामस्त्येन संभृतं व्याप्तं नभो यैस्तानि ॥३१॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (शठेन कमठेन) दुष्ट कमठ के द्वारा (रोषात्) क्रोध से (प्राग्भारसम्भृतनभांसि) सम्पूर्ण रूप से आकाश को व्याप्त करने वाली (यानि) जो (रजांसि) धूल (उत्थापितानि) आपके ऊपर उड़ाई गई थी (तैः तु) उससे तो (तव) आपकी (छाया अपि) छाया भी (न हता) नहीं नष्ट हुई थी, (परम्) किन्तु (अयमेव दुरात्मा) यही दुष्ट (हताशः) हताश हो (अमीभिः) कर्मरूप रजोंसे (ग्रस्तः) जकड़ा गया था ।

भावार्थ—जब भगवान् पार्श्वनाथ तपस्या कर रहे थे, तब उनके पूर्वभवके बैरी कमठ के जीवने उन पर धूल उड़ाकर भारी उपसर्ग किया था । लोकमें यह देखा जाता है कि जो सूर्य पर धूल फेंकता है, उससे सूर्य की जरा भी कान्ति नष्ट नहीं होती, पर वही धूलि फेंकने वाले के ऊपर गिरती है । श्लोक में आये हुए रज शब्द के दो अर्थ हैं—एक धूलि, दूसरा कर्म । कमठ के जीव ने भगवान् पर उपसर्ग कर कर्मों का बन्ध किया था, इस बात को कवि ने लोक-प्रचलित उक्त उदाहरण से स्पष्ट किया है ।।३१।।

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम-
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारिकृत्यम् ।।३२।।

गर्जे महा कड़क के बिजली पड़े त्यों-
पानी गिरे भयद मूसलधार होके ।
की दुष्ट ने कठिन दुस्तर वारि वर्षा,
उसके लिए वह हुई तरवारि-वर्षा ।। ३२ ।।

टीका—भो जिन ! यत् दैत्येन कमठदानवेन दुस्तरवारि दुर्द्धरपानीयं मुक्तं भवान् दध्रे । अथ पुनस्तस्य कमठस्य तेनैव पानीयेन दुस्तरवारिकृत्यं जातं । दुस्तरं दुस्सहं यत् दुस्तरवारि दुष्टु यो हि

तरवारिश्चंचत्खड्गस्तद्वत्कृत्यं यस्य तत् एवंविधं समजनि। कथंभूतं दुस्तरवारि ? गर्जिता ऊर्जिता महत्तरा ये घना मेघास्तेषां ओघा यस्मिंस्तत्। मुसलवन्मांसलाः स्थूला घोरा भयदा धारा यस्मिंस्तत् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (जिन) हे जिनेश्वर ! (दैत्येन) उस कमठ ने (गर्जदूर्जितघनौघम्) खूब गर्ज रहे हैं बलिष्ठ-मेघ-समूह जिसमें (भ्रश्यत्तडित्) गिर रही है बिजली जिसमें और (मुसलमांसलघोरधारम्) मूसल के समान है बड़ी मोटी धारा जिसमें ऐसा तथा (अदभ्रभीमम्) अत्यन्त भयङ्कर (यत्) जो (दुस्तरवारि) अथाह जल (सृष्टम्) बरसाया था (तेन) उस जलवृष्टि से (तस्य एव) कमठ ने ही अपने लिये (दुस्तरवारि-कृत्यम्) तीक्ष्ण तलवार का काम अर्थात् व्रण कर लिया था।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप पर मूसलाधार पानी वर्षा कर कमठके जीवने उपसर्ग किया था, उससे आपका क्या बिगड़ा ? परन्तु उसीने अपने लिये 'दुस्तरवारिकृत्ये' दुष्ट तलवारका कार्य अर्थात् घाव कर लिया—ऐसे कर्मोंका बन्ध किया जो तलवारके समान दुःखदायी हुए थे। श्लोकमें 'दुस्तरवारि' शब्द दो बार आया है, उनमें से पहलेका अर्थ कठिनाईसे तरने योग्य जल है, और दूसरेका अर्थ दुष्ट तरवारि—तलवार है ॥३२॥

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रतिभवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याऽभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥३३॥

अंगार को उगलता पर-मुंड धारे,
सूखे कुकेश, विकराल शरीरवाला।
जो प्रेत-वृन्द तव नाथ! समीप भेजा,
उसको हुआ वह भवों-भव दुःखदायी ॥ ३३ ॥

टीका—भो परमेश्वर ! यः प्रेतव्रजो भूतसमूहः भवंतं श्रीमंत प्रत्यपि। ईरितः प्रेरितः। स प्रेतव्रजः। अस्य कमठस्य। प्रतिभवं भवं

प्रति । भवस्य संसारस्य । दु:खानां हेतुः । अभूत् बभूव । प्रेतानां व्रजः प्रेतव्रजः । ध्वस्ता विस्तारिता ये ऊर्ध्वकेशास्तैर्विकृता विकारिण्य आकृतयो येषां ते ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतय एवंविधा ये मर्त्यास्तेषां मुण्डानि कपालानि तेषां प्रालम्बमालां बिभर्तीति । पुन: कथं प्रेतव्रज: ? भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः भयदायि यद्वक्त्रं तस्माद्विनिर्यन्त नि:सरन्तोऽग्नयो यस्य सः ।।३३।।

अन्वयार्थ—(तेन असुरेण) उस असुर के द्वारा (ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद्) मुंडे हुए तथा विकृत आकृतिवाले नर कपालोंकी मालाको धारण करने वाला और (भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः) जिसके भयङ्कर मुखसे अग्नि निकल रही है, ऐसा (यः) जो (प्रेतव्रजः) पिशाचोंका समूह (भवन्तम् प्रति) आपके प्रति (ईरितः) प्रेरित किया गया था—दौड़ाया गया था (सः) वह (अस्य) उस असुरको (प्रतिभवम्) प्रत्येक भवमें (भवदु:खहेतुः) संसार के दुःखोंका कारण (अभवत्) हुआ था ।

भावार्थ—हे भगवन् ! कमठके जीवने आपको तपस्यासे विचलित करनेके लिये जो पिशाच दौड़ाये थे, उनसे आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ, परन्तु उस पिशाचको ही भारी कर्मबन्ध हुआ, जिससे उसे अनेक भवोंमें दुःख उठाने पड़े ।।३३।।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ।।३४।।

रोमाञ्च गद्गद प्रफुल्लित देह होके,
आराधना तव पदाम्बुज की महेश !
जो भक्तिपूर्वक करें विधि से त्रिकाल,
वे धन्य हैं जगत में जन देहधारी ।। ३४ ।।

टीका—भो भुवनाधिप ! भो विभो ! भुवि पृथिव्यां । त एव जन्मभाजो धन्याः पुण्यवंतः ते के ? ये जन्मभाजः प्राणिनः । त्रिसंध्यं त्रिकालं । भक्त्या श्रद्धया । तव विभो । पादद्वयं चरणकमलं । विधिवत् विध्युक्तप्रकारेण । आराधयन्ति निषेवन्ते । कीदृशास्ते ? विधूतानि स्फेटितानि अन्यानि कृत्यानि । यैस्ते । पुनरुल्लसन्तश्च ते पुलकाश्च तैः पक्ष्मलाः कलंकिता व्याप्ता वा देहस्य शरीरस्य प्रदेशा येषां ते ।।३४।।

अन्वयार्थ—(भुवनाधिप) हे तीनों लोकके नाथ ! (ये) जो (जन्मभाजः) प्राणी, (विधुतान्यकृत्याः) जिन्होंने अन्य काम छोड़ दिये हैं और (भक्त्या) भक्तिसे (उल्लसत् पुलक पक्ष्मलदेहदेशाः) प्रकट हुए रोमाञ्चोंसे जिनके शरीरका प्रत्येक अवयव व्याप्त है, ऐसे (सन्तः) होते हुए (विधिवत्) विधिपूर्वक (त्रिसन्ध्यम्) तीनों कालोंमें (तव) आपके (पादद्वयम् आराधयन्ति) चरणयुगलकी आराधना करते हैं । (विभो) हे स्वामिन् ! (भुवि) संसारमें (ते एव) वे ही (धन्याः) धन्य हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारमें उन्हींका जन्म सफल है, जो भक्तिपूर्वक आपके चरणों की आराधना करते हैं ।।३४।।

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ।।३५।।

संसार-वारि-निधि में पड़ के कदाचित्,
मैंने सुना न जगदीश्वर नाम तेरा ।
जो नाम मंत्र सुनता अति ही पवित्र,
आती विपद् विषधरी किस भाँति पास ? ।। ३५ ।।

टीका—भो मुनीश ! अहमेवं मन्ये इति सम्भावयामि । इतीति किं ? अस्मिन् प्रत्यक्षगोचरीभुते । अपारवारिनिधौ अगाधसंसारसमुद्रे । मे मम । श्रवणगोचरतां कर्णयमलप्रत्यक्षभावं । त्वं न गतोऽसि न

प्राप्तोऽसि। अपारो अगाधो यो भव एव वारिनिधिस्तस्मिन्। श्रवणयोः कर्णयोः गोचरता प्रत्यक्षभावता तां। वा अथवा। तव भगवतो गोत्र-पवित्रमन्त्रे तव भगवतः पावनमन्त्रे। आकर्णितेऽपि सति। विपद्विषधरी आपदभुजंगी। किं सविधं समीपं। समेति आगच्छति? अपि तु न समेतीत्यर्थः। गोत्रं नाम तल्लक्षणो यः पवित्रमन्त्रस्तस्मिन्। विपदेव विषधरी सर्पिणी विपद्विषधरी ॥३५॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) मुनीन्द्र! (मन्ये) मैं समझता हूँ कि आप (अस्मिअपारभववारिनिधौ) इस अपार संसाररूप समुद्रमें कभी भी (मे) मेरे (कर्णगोचरताम् न गतः असि) कानोंकी विषयताको प्राप्त नहीं हुए हो। क्योंकि (तु) निश्चयसे (तव गोत्रपवित्रमन्त्रे) आपके नामरूपी मन्त्रके (आकर्णिते 'सति') सुने जाने पर (विपद्विषधरी) विपत्तिरूपी नागिन (किम् वा) क्या (सविधम्) समीप (समेति) आती? अर्थात् नहीं।

भावार्थ— हे प्रभो! जो मैं संसार में अनेक दुःख उठा रहा हूँ, उससे विश्वास होता है कि मैंने कभी भी आपका पवित्र नाम नहीं सुना ॥३५॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव!
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

है पूज्य! वाञ्छित फलप्रद पाँव तेरे,
पूजे न पूर्व भव में भगवान् मैंने।
है बात सत्य इससे इस जन्म में मैं,
हूँ जो पराभव मनोरथ-भंग-पात्र ॥ ३६ ॥

टीका—हे देव! अहमेवं मन्ये मया जन्मान्तरेऽपि एकस्मिन् जन्मन्यपि। तवार्हतं। पादयुगं चरणद्वन्द्वं। न महितं न पूजितमित्यर्थः। एकस्माज्जन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्मिन्। कीदृशं पादयुगं? ईहितं अभिलषितं तस्य दानं प्रदानं तत्र दक्षं। भो मुनीश! तेन कारणेन

भवचरणाऽपूजनहेतुना इह जन्मनि इह भवांतरेऽपि। अहं पराभवानां आपदां। पात्रं स्थानं। जातोस्मि अभूवं। कथंभूतानां पराभवानां? मथितः विलोडितः आशयश्चित्तं यैस्ते तेषाम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (मन्ये) मैं मानता हूँ कि मैंने (जन्मान्तरे अपि) दूसरे जन्म में भी (ईहित दानदक्षम्) इच्छित फल देने में समर्थ (तव पादयुगम्) आपके चरण युगल (न महितम्) नहीं पूजे, (तेन) उसी से (इह जन्मनि) इस भव में (मुनीश) हे मुनीश ! (अहम्) मैं (मथिताशयानाम्) हृदयभेदी (पराभवानाम्) तिरस्कारों का (निकेतनम्) घर (जातः) हुआ हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो मैं तरह-तरह के तिरस्कारों का पात्र हो रहा हूँ, उससे स्पष्ट है, कि मैंने आपके चरणों की पूजा नहीं की। क्योंकि आपके चरणों के पुजारियों का कभी किसी जगह भी तिरस्कार नहीं होता ॥३६॥

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

मोहान्धकारवश लोचन मूँद मैंने
तेरे न दर्शन किये पहले अवश्य।
जो बात हैं न यह तो फिर क्यों सताते,
ये मर्मवेधक अखंड अनर्थ आके ? ॥ ३७ ॥

टीका—भो विभो। नूनं निश्चितं। मोह एव तिमिराणि अन्धकाराणि तैरावृते उज्झंपिते छादिते लोचने यस्य स तेनैवंविधेन मया। पूर्वं प्रागेव। सकृदपि एकवारमपि। त्वं न प्रविलोकितोऽसि नयनगोचरीभावं न गतोऽसि। हि युक्तोऽयमर्थः। अन्यथा चेत् त्वं मम नयनगोचरीभावं गतश्चेत्। एते अनर्थाः जन्ममृत्युजरादयः मां कथं विधुरयंति पीडयंति? कथंभूता अनर्थाः ? प्रोद्यन्त्य उदीयमानाः प्रबन्धानां कर्मबन्धानां गतयो येषु ते। पुनः कथंभूता ? मर्माविधो मर्मभेदकाः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (मोहतिमिरावृतलोचनेन) मोहरूपी अन्धकार से ढँके हुए हैं नेत्र जिनके ऐसे (मया) मेरे द्वारा आप (पूर्वम्) पहले कभी (सकृद् अपि) एक बार भी (नूनम्) निश्चय से (प्रविलोकितः न असि) अच्छी तरह अवलोकित नहीं हुए हो—अर्थात् मैंने आपके दर्शन नहीं किये। (अन्यथा हि) नहीं तो (प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः) जिनमें कर्मबन्ध की गति बढ़ रही है ऐसे (एते) ये (मर्माविधः) मर्मभेदी (अनर्थाः) अनर्थ (माम्) मुझे (कथम्) क्यों (विधुरयन्ति) दुःखी करते ?

भावार्थ—भगवन् ! मैंने मिथ्यात्व के उदय से अन्धे होकर कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आज ये दुःख मुझे दुःखी कैसे करते ? क्योंकि आपके दर्शन करने वालों को कभी कोई भी अनर्थ दुःख नहीं पहुँचा सकते ।।३७।।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।३८।।

मैंने सुदर्शन किये, गुन भी सुने, की
पूजा, तथापि हिय में न तुझे बिठाया।
हूँ दुःख-पात्र जनबांधव ! मैं इसी से,
होती नहीं सफल भाव बिना क्रियाएँ ।। ३८ ।।

टीका—भो विभो ! मया अज्ञानिना। त्वं आकर्णितोऽपि समवसरणलक्ष्मीविराजमान एवं श्रुतोपि। एवंविधस्त्वं महितोऽपि पूजितोऽपि। एवंविधस्त्वं। निरीक्षितोऽपि। नूनं निश्चितं। चेतसि मनसि। भक्त्या सम्यक्त्वपूर्वकं। न विधतोऽसि। हे जनानां बांधव ! तेनैव हेतुना अहं। दुःखानां पात्रं जातोऽस्मि सर्वदुःखस्थानं अभूवं। यस्मात्कारणद्-भावशून्याः सम्यक्त्वरहिताः क्रियाः न प्रतिफलंति। भावेन शून्या भावशून्याः ।।३८।।

अन्वयार्थ—अथवा (जनबान्धव) हे जगद्बन्धो ! (मया) मेरे द्वारा आप भी (आकर्णित: अपि) आकर्णित भी हुए हैं, (महित: अपि) पूजित भी हुए हैं, और (निरीक्षित: अपि) अवलोकित भी हुए हैं, अर्थात् मैंने आपका नाम भी सुना है, पूजा भी की है और दर्शन भी किये हैं, फिर भी (नूनम्) निश्चय है कि (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (चेतसि) चित्त में (न विधृत: असि) धारण नहीं किये गये हो । (तेन) उसी से (दु:खपात्रम् जात: अस्मि) दु:खों का पात्र हो रहा हूँ (यस्मात्) क्योंकि (भावशून्या:) भाव रहित (क्रिया:) क्रियाएँ (न प्रतिफलन्ति) सफल नहीं होतीं ।

भावार्थ—इससे पहले तीन श्लोकों में कहा गया था कि भगवन् ! मैंने 'आपका नाम नहीं सुना', 'चरणों की पूजा नहीं की' और 'दर्शन नहीं किये' इसलिये मैं दु:ख उठा रहा हूँ । अब इस श्लोक में पक्षान्तररूप से कहते हैं कि मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये, फिर भी दु:ख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते, उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है, कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया । केवल आडम्बर रूप से ही उन कामों को किया है न कि भावपूर्वक भी । यदि भाव से करता तो कभी दु:ख नहीं उठाने पड़ते ।।३८।।

त्वं नाथ ! दु:खिजनवत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य ! ।
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय
दु:खांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ।।३९।।

हे दीनबन्धु ! करुणाकर ! हे शरण्य !
स्वामिन् ! जितेन्द्रिय ! वरेण्य ! सुपुण्यधाम !
हूँ भक्ति से प्रणत मैं करके दया तू,
हे नाथ ! नाश कर दे सब दु:ख मेरे ।। ३९ ।।

टीका—भो शरण्य शरणाय अर्ह ! भो नाथ ! भो दुःखिजनानां वत्सल बांधव । भो कारुण्यपुण्यवसते ! हे वशिनां वरेण्य ! हे यतीनां श्रेष्ठ ! हे महेश ! मयि विषये । दयां कृपां । विधाय । दुःखानां अंकुरास्तेषां उद्दलनं निराकरणं तत्र तत्परस्तस्य भावस्तां विधेहि कुरु । कथंभूते मयि ? भक्त्या नते नम्रीभूते । भो नाथ ! हे पार्श्वनाथ ! हे जन बांधव ! मम दुःखानि निवारय मोक्षं देहीति तात्पर्यार्थः ।।३९।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ । (दुःखिजनवत्सल) हे दुखियोंपर प्रेम करने वाले ! (हे शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (कारुण्यपुण्यवसते) हे दया की पवित्र भूमि ! (वशिनाम् वरेण्य !) हे जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ ! और (महेश) हे महेश्वर ! (भक्त्या) भक्ति में (नते मयि) नम्रीभूत मुझ पर (दयाम् विधाय) दया करके (दुःखांकुरोद्दलनतत्परताम्) मेरे दुःखाङ्कुर के नाश करने में तत्परता-तल्लीनता (विधेहि) कीजिये ।

भावार्थ—आप शरणागत प्रतिपालक हैं, दयालु हैं और समर्थ भी हैं । इसलिए आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे दुःखों को दूर करने के लिए तत्पर हूजिये ।।३९।।

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्या-
मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदानम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ।।४०।।

माहात्म्यवान, शरणागत-शान्तिदायी,
शत्रु-प्रणाशकर हैं तव पादपद्म ।
पाके उन्हें सफल जो न हुआ प्रभो ! तो,
हे लोकपावन ! मुनीश्वर ! हा मरा मैं ।। ४० ।।

टीका—हे भुवनपावन हे त्रैलोक्यपावन ! चेत् यदि । त्वत्पादपंकजमपि तव चरणकमलमपि । आसाद्य प्राप्य । प्रणिधानेन वध्यः ।

पुनः पुनश्चिन्तनरहितस्तर्हि बंध्योऽस्म्यहं अहं निष्फल एव । तव पादा एवं पंकज त्वत्पादपकजं । हा इति खेदे हतोऽस्मि पीडितोऽस्मि । कथंभूतं त्वत्पादपङ्कजं ? निःसंख्याः संख्यारहिता ये साराः पदार्थास्तेषां शरणं गृहं । पुनः कथंभूत ? सादिता रिपवः कर्मवैरिणो येन तत् । पुनः कथंभूतं ? प्रथितो विख्यातोऽवदानो महिमा यस्य तत् ।।४०।।

अन्वयार्थ—(भुवनपावन) हे संसारको पवित्र करने वाले भगवन् ! (निःसंख्यसारशरणम्) असंख्यात् श्रेष्ठ पदार्थों के घरकी (शरणम्) रक्षा करनेवाले (शरण्यम्) शरणागत प्रतिपालक और (सादितरिपुप्रथितावदातम्) कर्मशत्रुओंके नाशसे प्रसिद्ध है, पराक्रम जिनका ऐसे (त्वत्पादपङ्कजम्) आपके चरणकमलोंको (आसाद्य अपि) पा कर भी (प्रणिधानवन्ध्यः) उनके ध्यानसे रहित हुआ मैं (वन्ध्यः अस्मि) अभागा-फलहीन हूँ, और (तत्) उससे (हा) खेद है कि मैं (हतः अस्मि) नष्ट हुआ जा रहा हूँ । अर्थात् कर्म मुझे दुःखी कर रहे हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके पवित्र और दयालु चरणोंको पाकर भी जो मैं उनका ध्यान नहीं कर रहा हूँ, उससे मेरा जन्म निष्फल जा रहा है । और मैं कर्मों द्वारा दुःखी किया जा रहा हूँ ।।४०।।

देवेन्द्रवन्द्य ? विदिताखिलवस्तुसार !
संसारतारक ! विभो भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव ! करुणाह्रद ! मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ।।४१।।

सर्वज्ञ देव ! सुरनायक ! पूजनीय !
संसार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
मैं हूँ दयाधन ! दुखी मुझको बचाओ,
संसार से, कर पवित्र तथा मुझे दो ।। ४१ ।।

टीका—देवेन्द्राणां वंद्यः पूज्यस्तस्यामंत्रणे हे देवेन्द्रवंद्य ! विदितो

ज्ञातोऽखिलवस्तूनां सर्वपदार्थानां सारस्तात्पर्यं येन स तस्यामंत्रणे हे विदिताखिलवस्तुसार ! संसारे भवाब्धौ तारयतीति तस्यामंत्रणे हे संसारतारक ! हे भुवनाधिनाथ ! हे देव ! करुणाया ह्रदः समुद्रः तस्यामंत्रणे हे करुणाह्रद ! । मां भक्तजनं । त्रायस्व पाहि ! भो देव ! अद्य भयदो भयदायी यो व्यसनानां आपदां अम्बुराशिः सागरस्तस्मात् । पुनीहि पवित्रय रक्ष । कथंभूतं मां सीदन्तं दुःखितं दुःखेन पीडितम् ।।४१।।

अन्वयार्थ—(देवेन्द्रवद्य) हे इन्द्रोंके वन्दनीय ! (विदिताखिलवस्तुसार) हे सब पदार्थोंके रहस्यको जाननेवाले ! (संसारतारक) हे संसार-समुद्रसे तारनेवाले ! (विभो) हे प्रभो ! (भुवनाधिनाथ) हे तीनों लोकके स्वामिन् । (करुणाह्रद) हे दयाके सरोवर ! (देव) देव ! (अद्य) आज (सीदन्तम्) तड़पते हुए (माम्) मुझको (भयदव्यसनाम्बुराशेः) भयङ्कर दुःखोंके समुद्रसे (त्रायस्व) बचाओ, और (पुनाहि) पवित्र करो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप हर एक तरह से समर्थ हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे इस दुःख-समुद्रसे डूबनेसे बचाइये, और हमेशाके लिए कर्म-मैलसे रहित कर दीजिये ।।४१।।

यद्यस्ति नाथ ! भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि संन्ततसञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः
स्वामी ! त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ।।४२।।

मैंने विभो ! सतत की तव पाद-भक्ति,
एकत्र होय उसका फल जो जरा भी ।
है प्रार्थना बस यही इस लोक में क्या,
क्या अन्य लोक बिच हो मम नाथ तू ही ।। ४२ ।।

टीका—भो नाथ ! भो शरण्य ! यदि चेत् भवदंघ्रिसरोरुहाणां श्रीमच्चरणकमलानां भक्तेः किमपि फलं अस्ति चेत् तर्हि मे मम अत्र

भुवने इह जन्मनि भवांतरेऽपि वा त्वमेव स्वामी प्रभुर्भूया भवतात् । कथं भूताया भक्तेः ? सन्तत्या निरंतरेण संचिता कृता तस्याः । कथंभूतस्य मे ? त्वमेव एकं अद्वितीय शरणं यस्य स तस्य ॥४२॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ ! (त्वदेकशरणस्य मे) केवल आप ही की है शरण जिसको ऐसे मुझे (सन्ततसञ्चितायाः) चिरकालसे सञ्चित-एकत्रित हुई (भवंदघ्रिसरोरुहाणाम्) आपके चरण-कमलोंको (भक्तेः) भक्तिका (यदि) यदि (किमपि फलम् अस्ति) कुछ फल हो, (तत्) तो उससे (शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (त्वम् एव) आप ही (अत्र भुवने) इस लोकमें और (भवान्तरे अपि) परलोक में भी (स्वामी) मेरे स्वामी (भूयाः) होवें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्तुति कर मैं आपसे अन्य किसी फलकी चाह नहीं रखता । सिर्फ यह चाहता हूँ कि आप ही मेरे हमेशा स्वामी रहें । अर्थात् जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक आप ही मेरे स्वामी रहें । ''तुम होहु भव भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूँ'' ॥४२॥

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सांद्रोल्लसत्पुलककञ्चुकितांगभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो ! रचयंति भव्याः ॥४३॥

आर्या

जननयनकुमुदचन्द्र ! प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥४४॥

आनन्द में पुलक, गद्‌गद कंठ होके,
तेरे मुखाब्ज पर आँख लगा अनोखी-
जो चित्त को स्थिर किये विधि से महेश,
सप्रेम यों स्तव रचे तब भव्यजीव ॥ ४३ ॥

जननेत्र कुमुदचन्द्र ! प्रभो ! सभी स्वर्ग-सम्पदा नीकी।
भोगें व फिर जल्दी निर्मल हो मोक्ष को पावें॥ ४४॥

टीका—भो जिनेन्द्र भो विभो ! ये भव्याः प्राणिनः शुद्ध-सम्यक्त्वधारिणो जनाः । तव भगवतो । जिनस्य संस्तवनं यथार्थ स्तोत्रं । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण । विधिवत यथाविधि रचयंति । कथंभूता भव्याः ? समाहिता सावधाना धी बुद्धिर्येषां ते । पुनः कथंभूताः ? सांद्रः निबिडः उल्लसन् यो हि पुलकः कंटकस्तेन कंचुकिताः कवचिता अंगभागा शरीरप्रदेशा येषां ते । पुनः कथंभूता ? तव बिम्बं त्वद्बिम्ब तस्य निर्मलं यन्मुखाम्बुजं मुखकमलं तत्र बद्धं लक्ष्यं यैस्ते ॥४३॥ जनानां भव्यानां नयनान्येव कुमुदानि कैरवाणि तत्र चन्द्रस्तस्यामंत्रणे हे जननयनकुमुद-चन्द्र ! ते भव्याः । स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा स्वर्गसाम्राज्यं परिभुज्य । अचिरात् स्वल्पकालेन । मोक्षं प्रपद्यते लभंते । कीदृश्यः स्वर्गसम्पदः ? प्रभास्वराः प्रकर्षेण भास्वराः दीप्यमानाः कथंभूता भव्याः ? विगलितो मलनिचयो येषां ते विगलितमलनिचयाः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(**जिनेन्द्र विभो !**) हे जिनेन्द्र देव ! (**ये भव्याः**) जो भव्यजन (**इत्थम्**) इस तरह (**समाहितिधयः**) सावधानबुद्धिसे युक्त हो (**त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः**) आपके निर्मल मुख-कमलपर बाँधा है लक्ष्य जिन्होंने ऐसे तथा (**सान्द्रोल्लसत्पुलककंचुकिताङ्गभागाः**) सघनरूपसे उठे हुए रोमांचोंसे व्याप्त है शरीरके अवयव जिनके ऐसे (**सन्तः**) होते हुए (**विधिवत्**) विधिपूर्वक (**तव**) आपका (**संस्तवम्**) स्तवन (**रचयन्ति**) रचते हैं, (**ते**) वे (**जननयनकुमुदचन्द्र**[1]) हे प्राणियोंके नेत्ररूपी कुमुदों-कमलोंको विकसित करनेके लिये चन्द्रमाकी तरह शोभायमान देव ! (**प्रभास्वराः**) देदीप्यमान (**स्वर्गसम्पदः**) स्वर्ग की सम्पत्तियोंको (**भुक्त्वा**) भोगकर

१. कविने श्लेषसे 'कुमुदचन्द्र' यह अपना नाम भी सूचित कर दिया है । कविका दूसरा नाम 'सिद्धसेनदिवाकर' भी था ।

(विगलितमलनिचयाः 'सन्तः') कर्मरूपी मल-समूहसे रहित हो (अचिरात्) शीघ्र ही (मोक्षम् प्रपद्यन्ते) मुक्तिको पाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो भक्तिसे गद्‌गद चित्त हो आपकी स्तुति करते हैं, वे स्वर्गके सुख भोग बहुत जल्दी आठ कर्मोंका नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

स्वर्गनके सुख भोगकर, पावे मोक्ष निदान ।

इति श्रीकुमुदचन्द्राचार्य अपरनाम श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण प्रणीतं
कल्याणमन्दिरस्तोत्रं-श्रीपार्श्वनाथस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

कविवर बनारसीदासजीकृत पुरातन पद्यानुवाद

कल्याणमन्दिर स्तोत्र

दोहा

परमज्योति परमातमा, परमज्ञान परवीन।
बन्दौं परमानन्दमय, घट घट अन्तरलीन ॥१॥

चौपाई (१५ मात्रा)

निरभै करन परम परधान। भव-समुद्र जल-तारन जान ॥
सिव-मन्दिर अघ-हरन अनिन्द। बन्दहुँ पास चरन अरविन्द ॥२॥
कमठमान-भंजन वरवीर। गरिमा-सागर गुन गम्भीर ॥
सरगुरु पार लहैं नहिं जासु। मैं अजान[1] जंपौं जस तासु ॥३॥
प्रभुस्वरूप अति अगम अथाह। क्यों हमसे इह होय निवाह ॥
ज्यौं दिन अंध उलूकौ पोत[2]। कहि न सकै रविकिरन उदोत ॥४॥
मोहहीन जानै मनमाँहिं। तेऊ न तुम गुन बरनैं जाँहि ॥
प्रलय-पयोधि करै जल चौन[3]। प्रगटहिं रतन गिनै तिहि कौन ॥५॥
तुम असंख्य निर्मल गुण-खानि। मैं मतिहीन कहौं निज बानि ॥
ज्यौं बालक निज बाँह पसार। सागर परिमित कहै विचार ॥६॥
जो जोगीन्द्र करहिं तप खेद। तऊ न जानहि तुम गुन भेद ॥
भगति भाव मुझ मन अभिलाख। ज्यौं पंखी बोलहिं निज भाख ॥७॥
तुम जस महिमा अगम अपार। नाम एक त्रिभुवन आधार ॥
आवै पवन पद्मसर[4] होय। ग्रीषम तपत निवारै सोय ॥८॥
तुम आवत भविजन मनमाँहि। कर्मनिबन्ध शिथिल हो जाँहिं ॥
ज्यौं चन्दन तरु बोलहिं मोर। डरहिं भुजंग लगे चहुँ ओर ॥९॥
तुम निरखत जन दीनदयाल। संकटतै छूटहिं ततकाल ॥
ज्यौं पशु घेर लेहिं निसि चोर। ते तज भागहिं देखत भोर ॥१०॥
तूँ भविजन-तारक किमि होहिं। ते चित धारि तिरहिं लै तोहिं ॥
यह ऐसैं कर जान स्वभाव। तिरै मसक ज्यौं गर्भित बाउ ॥११॥

---

१. कहता हूँ। २. बच्चा। ३. वमन। ४. कमल सरोवर से स्पर्श करके।

जिन सब देव किसे बस बाम। तैं छिनमें जीत्यौ सो काम ।।
ज्यों जल करै अग्नि कुल हानि। बड़नवाल पीवै सो पानि ।।१२।।
तुम अनन्त गरुवा गुन लिये। क्योंकर भवित धरूँ निज हिये ।।
ह्वै लघुरूप तिरहि संसार। यह प्रभु महिमा अथक अपार ।।१३।।
क्रोध निवारि कियौ मन शांति। कर्म सुभट जीते किहिं भाँति ।।
यह पटतर देखहु संसार। नील बिरख ज्यौं दहै तुषार ।।१४।।
मुनिजन हिये कमल निज टोहि। सिद्धरूपसम ध्यावहिं तोहि ।।
कमल-कर्निका बिन नहिं ओर। कमल बीच उपजन की ठौर ।।१५।।
जब तुम ध्यान धरै मुनि कोय। तब विदेह परमातम होय ।।
जैसे धातु शिलातनु त्याग। कनक स्वरूप धवैं जब आग ।।१६।।
जाके मन तुम करहु निवास। विनस जाय क्यों विग्रह तास ।।
ज्यौं महन्त बिच आवै कोय। विग्रह मूल निवारै सोय ।।१७।।
करहिं विबुध जे आतम ध्यान। तुम प्रभावतैं होय निदान ।।
जैसे नीर सुधा अनुमान। पीवत विष विकारकी हान ।।१८।।
तुम भगवन्त विमल गुण लीन। समलरूप मानहिं मति हीन ।।
ज्यौं पीलिया रोग दृग गहै। वर्न विवर्न संख सौं कहै ।।१९।।

दोहा

निकट रहत उपदेश सुनि, तरुवर भये अशोक।
ज्यौं रवि ऊगत जीन सब, प्रगट होत भुविलोक ।।२०।।
सुमन-वृष्टि जो सुर करहिं, हेठ[1] बीट मुख सोहिं।
त्यौं तुम सेवत सुमन जन, बंध अधोमुख होहिं ।।२१।।
उपजी तुम हिय उदधितैं, बानी सुधा समान।
जिहिं पीवत भविजन लहहिं, अजर अमर पदथान ।।२२।।
कहहिं सार तिहुँलोकको, ये सुरचामर दोय।
भाव सहित जो जिन नमें, तसु गति ऊरध होय ।।२३।।
सिंहासन गिरि मेरु सम, प्रभु धुनि गरजत घोर।
श्याम सुतन घनरूप लखि, नाचत भविजन मोर ।।२४।।

---

१. नीचे

छवि हत होंहिं अशोक दल, तुव भामण्डल देख।
वीतराग के निकट रह, रहत न राग विसेख ॥२५॥
सीख कहै तिहुँलोक सों, यह सुरदुंदुभि नाद।
सिवपथ सारथिवाह जिन, भजहु तजहु परमाद ॥२६॥
तीन छत्र त्रिभुवन उदित, मुक्तागन छवि देत।
त्रिविध रूप धरि मनहुँ शशि, सेवज नखत समेत ॥२७।

पद्धरि छन्द

प्रभु तुम सरीर दुति रतन जेम। परताप पुंज जिमि सुद्ध हेम॥
अति धवल सुजस रूपा समान। तिनके गढ़ तीन विराजमान ॥२८॥
सेवहिं सुरेन्द्र कर नमति भाल। तिन सीस मुकुट तज देहिं माल॥
तुव चरण लगत लहलहैं प्रीति। नहिं रमहि और जन सुमन रीति ॥२९॥
प्रभु भोग विमुख तन कर्म दाह। जन पार करत भव-जल निवाह॥
ज्यौं माटी कलस सुपक्व होय। लै भार अधोमुख तिरहि तोय ॥३०॥
तुम महाराज निर्द्धन निरास। तज विभव-विभव सब जग विकास॥
अक्षर स्वभावसैं लिखै न कोय। महिमा अनन्त भगवंत सोय ॥३१॥
कोप्यौ सु कमठ निज बैर देख। तिन करी धूल वर्षा विसेख॥
प्रभु तुम छाया नहिं भई हीन। सो भयो पापि लम्पट मलीन ॥३२॥
गरजंत घोर घन अन्धकार। चमकन्त विज्जु जल मुसलधार॥
वरषंत कमठ धर ध्यान रुद्र। दुस्तर करंत निज भव-समुद्र ॥३३॥

वस्तु छन्द

मेघलाली मेघलाली, आप बल फोरि।
भेजे तुरन्त पिचासगन, नाथ पास उपसर्ग कारन।
अग्निजाल झलकंत मुख धुनि, करंत तिमि मत्तवारन॥
कालरूप विकराल तन, मुण्डमाल तिह कंठ।
ह्वै निसंक वह रंक निज, करे कर्म दृढ़गंठ ॥३४॥

चौपाई

जे तुव चरन कमल तिहुँकाल। सेवहिं तज माया-जंजाल॥
भाव भगति मन हरष अपार। धन्य-धन्य जग तिन अवतार ॥३५॥

भव-सागर महँ फिरत अजान। मैं तुव सुजस सुन्यौ नहिं कान ।।
जो प्रभुनाम मंत्र मन धरै। तासौं विपति भुजंगम डरै ।।३६।।
मनवांछित फल जिनपद माँहि। मैं पूरब भव पूजे नाहिं ।।
माया मगन फिर्‌यो अग्यान। करहिं रंकजन मुझ अपमान ।।३७।।
मोह-तिमिर छायौ दृग मोहि। जन्मान्तर देख्यौ नहिं तोहि ।।
तौ दुर्जन मुझ संगति गहैं। मरम छेदके कुवचन कहैं ।।३८।।
सुन्यौ कान, जस पूजे पाय। नैनन देख्यौ रूप अघाय ।।
भक्ति हेतु न भयौ चित चाव। दुखदायक किरिया बिन भाव ।।३९।।
महाराज सरनागत पाल। पतित-उधारन दीनदयाल ।।
सुमरन करहुँ नाय निज शीस। मुझ दुख दूर करहु जगदीस ।।४०।।
कर्मनिकंदन महिमा सार। असरन-सरन सुजस विसतार ।।
नहिं सेये प्रभु तुमरे पाय। तौ मुझ जनम अकारथ जाय ।।४१।।
सुरगन बन्दित दयानिधान। जग-तारन जगपति जगजान ।।
दुखसागरतैं मोहि निकारि। निरभै थान देहु सुखरासि ।।४२।।
मैं तुम चरन-कमल गुन गाय। बहुविधि-भक्ति करो मन लाय ।।
जन्म-जन्म प्रभु पावहुँ तोहि। यह सेवा-फल दीजै मोहि ।।४३।।

ढोधकान्त वेसरी छंद। षट्पद।

इहि विधि श्रीभगवंत, सुजस जे भविजन भाषहिं।
ते निज पुण्य-भंडार, संचि चिर पाप प्रनासहिं ।।
रोम-रोम हुलसत अंग, प्रभु गुन मन ध्यावहिं।
स्वर्ग-संपदा भुंज, वेग पंचमगति पावहिं ।।
यह कल्याणमन्दिर कियौ, 'कुमुदचन्द्र' की बुद्धि।
भाषा कहत 'बनारसी', कारन समकित सुद्धि ।।४४।।

❖❖❖

विषापहार स्तोत्र के रचयिता

धनञ्जय कवि

धनञ्जय कवि (७वीं, ८वीं शती) द्विसन्धान महाकाव्य के प्रणेता परम जैन कविराज का नाम जन-जन में प्रसिद्ध है। आपने १. द्विसन्धान २.विषापहारस्तोत्र ३. धनञ्जय नाममाला ये तीन ग्रन्थ बनाये हैं। द्विसंधान काव्य के प्रत्येक पद्यके दो अर्थ होते हैं। पहला रामायण से सम्बद्ध और दूसरा महाभारत से। इसी कारण इस काव्य को राघव पाण्डवीय भी कहते हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम पद्य से यह स्पष्ट होता है कि आपकी माता का नाम श्रीदेवी, पिता वासुदेव और गुरु का नाम दशरथ था।

आपकी एक महान् रचना धनञ्जय नाममाला जो एक महत्त्वपूर्ण शब्दकोष है। प्रस्तुत विषापहारस्तोत्रमें भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है। यह स्तुति गंभीर, प्रौढ़ और अध्यात्मसे पूर्ण अनूठी रचना है। यह ग्रन्थ कवि की चतुराई से भरा हुआ है। इसमें शब्दों का माधुर्य, अर्थों का गांभीर्य और अलंकार की छटा यत्र-तत्र देखने को मिलती है।

विषापहार स्तोत्र की रचना का मुख्य हेतु उनके जीवन की अपूर्व घटना का इतिहास उसके पीछे है—कविराज धनञ्जय जिनपूजन में लीन थे। उनके सुपुत्र को सर्प ने डस लिया। घरसे कई बार समाचार आनेपर भी वे निस्पृह भावसे पूजनमें पूर्णतया तन्मय रहे। एकलौते पुत्र की गंभीर स्थिति देख कुपित होकर बच्चे को लेकर ही उनकी धर्मपत्नी जिनमन्दिरजी में आ गई और उसी मूर्च्छित अवस्था में पुत्रको पतिके सामने डाल दिया। पूजासे निवृत्त हो धनञ्जयने विचार किया। जिन-भक्ति का प्रभाव यदि आज नहीं दिखाया तो लोगोंकी श्रद्धा धर्मसे उठ जायगी। तत्काल विषापहार स्तोत्रकी रचना करते हुए भक्तिमें लीन प्रभु से कहने लगे—हे देव, मैं यह स्तुति करके आपसे दीनतापूर्वक कोई वर नहीं माँगता हूँ; क्योंकि आप उपेक्षा रखते हैं। जो कोई छाया पूर्ण वृक्ष का

आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया माँगने से क्या लाभ ? और हे देव, यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमें भक्ति दृढ़ बनी रहे ।

भक्तिमें लीन कविराज कहते हैं हे प्रभो ! इस बालक का विष उतारनेके लिये मैं मणि-मन्त्र औषधिकी खोजमें यत्र-तत्र भटकने वाला नहीं, मुझे तो आपरूप कल्पवृक्ष का ही आश्रय है । सत्य है कि हे भगवन् ! लोग विषापहार मणि, औषधियों, मन्त्र और रसायन की खोज में भटकते फिरते हैं; वे यह नहीं जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं । इधर स्तोत्र-रचना हो रही थी उधर पुत्र का विष उतर रहा था । स्तोत्र पूरा होते-होते बालक निर्विष होकर उठ बैठा । चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूँज उठी थी । धर्म की अपूर्व प्रभावना हुई ।

विषापहार स्तोत्र की आराधना करनेवाले भव्यात्मा को मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक प्रतिदिन प्रातः इसका पाठ करना चाहिये ।

●

महाकवि धनञ्जयप्रणीतम्

विषापहारस्तोत्रम्

(उपजाति छन्द)

स्वात्मस्थित: सर्वगत: समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्ग: ।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्य: पायाद पायात्पुरुष: पुराण: ।।१।।

अपने में ही स्थिर रहता है, और सर्वगत कहलाता ।
सर्व-संग-त्यागी हसोकर भी सब व्यापारों का ज्ञाता ।।
काल-मान से वृद्ध बहुत है, फिर भी अजर अमर स्वयमेव ।
विपदाओं से सदा बचावे, वह पुराण पुरुषोत्तम देव ।। १ ।।

टीका—पुराण: पुरुष: श्रीमदादिब्रह्मा। अपायात् कष्टात् । अव्यात् । पुरिशेतेऽसौ पुरुष: । कीदृश: पुरुष: ? स्वात्मस्थितोऽपि सर्वगत: । य: स्वात्मस्थित: स सर्वगत: कथमिति शब्दतो विरोधं प्रदर्श्य अर्थतो विरोधमपहरति । स्वात्मनि अनन्तानन्तज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे स्थित: । सर्वप्रतिगत: ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्त्वात् अस्य सर्वगतत्वं न विरुध्यते । पुनर्विनिवृत्तसंगोऽपि समस्तव्यापारवेदी । यो विनिवृत्तसंग: स समस्तव्यापारवेदीति कथमिति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधमपाकरोति । विशेषण निवृत्त: परित्यक्त: संगो बहिरन्तरुपलेपो येन स: । समस्ता: सर्वे ये व्यापारा जीवपुद्गलादिद्रव्यव्याप्रियमाणा-ऽनन्तगुणपर्यायलक्षणार्थक्रियादयस्तेषां वेत्ता । अथवा सम्यक्प्रकारे-णास्ता निराकृता ये व्यापारा असिमषिकृषिवाणिज्यलक्षणास्तान् वेत्तीति । पुन: प्रवृद्धकालोऽप्यजर: । इति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोध परिहरति । प्रकर्षेण वृद्ध: । एधित: काल: समयो यस्य स: । अनाद्य-नन्तत्वात् । न विद्यते जरा यस्य सोऽजर: । जरेत्युपलक्षणं । जराजन्म-मृत्युध्वंसीत्यर्थ: पुनर्वरेण्य: । धर, श्रेष्ठ इत्यर्थ: । वो युष्मान् पायादिति कर्मपदमध्याहार्यम् ।।१।।

अन्वयार्थ--(स्वात्मस्थित: अपि सर्वगत:) आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक, (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारों के जानकार होकर भी (विनिवृत्तसङ्ग:) परिग्रह से रहित, (प्रवृद्धकाल: अपि अजर:) दीर्घ आयुवाले होकर भी बुढ़ापे से रहित तथा (वरेण्य:) श्रेष्ठ (पुराण: पुरुष:) प्राचीन पुरुष-भगवान् वृषभनाथ (न:) हम सबको (अपायात्) विनाश से (पायात्) बचावें—रक्षित करें।

भावार्थ—श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है। इस अलङ्कार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है। देखिये—जो अपने स्वरूप में स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे होगा ? यह विरोध है; पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष आत्म-प्रदेशोंकी अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, पर उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत है। जो सम्पूर्ण व्यापारों को जानने वाला है वह परिग्रहरहित कैसे हो सकता है ? यह विरोध है। उसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं, यह विरोध है। उसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह श्लोक में विघ्न बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिये पुराण पुरुष से प्रार्थना की गई है ।।१।।

परैरचिन्त्यं युगभारमेक: स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्य: ।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न मानो: किमप्रवेशे विशति प्रदीप: ।।२।।

जिसने पर-कल्पनातीत, युग-भार अकेले ही झेला।
जिसके सुगुन-गान मुनिजन भी, कर नहिं सके एक वेला।।
उसी वृषभ की विशद विरद यह, अल्पबुद्धि जन रचता है।
जहाँ न जाता भानु वहाँ भी, दीप उजेला करता है।। २ ।।

टीका—अद्य मे ममासौ वृषभः श्रीमदादिब्रह्मा स्तुत्यस्तवनीयः। कृत्यानि कर्त्तरि षष्ठी चेति मे इत्यत्र षष्ठी। असौ कः? यः श्रीमदादिब्रह्मा योगिभिरपि ब्रह्मर्द्धिसम्पन्नैरपि स्तोतुमशक्यः। कीदृशोऽसौ? एकोऽसहायः सन् परैरन्यपुरुषैरचिन्त्यं मनसाप्यस्मरणीयं। कृतयुगारम्भे कल्पवृक्षाद्यभावेन जीवनोपायाभावे जिजीविषया संक्लिश्यमानप्राणिप्राणधारणोपायप्रदर्शनस्वरूपं युगभारं वहन् धरन्। भानोः सूर्यस्याप्रवेशेऽप्रचारे प्रदीपः किं न प्रविशति? अपि तु प्रविशतीत्यर्थः ॥२॥

अन्वयार्थ—(परैः) दूसरों के द्वारा (अचिन्त्यम्) चिंतवन करने के अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुग के भार को (एकः) अकेले ही (वहन्) धारण किये हुए तथा (योगिभिः अपि) मुनियों के द्वारा भी (स्तोतुम् अशक्यः) जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है ऐसे (असौ वृषभः) वे भगवान् वृषभनाथ (अद्य) आज (मे स्तुत्यः) मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ। सो ठीक है (भानोः) सूर्य का (अप्रवेश) प्रवेश नहीं होने पर (किम्) क्या (प्रदीपः) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता? अर्थात् करता है।

भावार्थ—भगवन्! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता। पर मैं आज आपकी स्तुति कर रहा हूँ, इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझ में जितनी सामर्थ्य है उससे बाज क्यों आऊँ? ॥२॥

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबंधम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ।।३।।

शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का।
किन्तु मैं न साहस छोड़ूँगा, विरदावली बनाने का।।
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रकटाऊँगा।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा।। ३ ।।

टीका—शक्रो देवेन्द्रः । स्तवनानुबन्धं स्तवनसम्बन्धिनं । शकनाभिमानं त्वा स्तोतुमहं शक्त इत्यभिमानं । तत्याज अहजात् । अहं स्तवनानुबन्धं । शकनाभिमानं । न त्यजामि न जहामि । स्तवनस्य अनुबन्धो यस्मिन् स तं । स्वल्पेन बोधेन । ततः इन्द्रात् स्वल्पज्ञानेनाधिकार्थं प्रभूतार्थं । अहं निरूपयामि बंभणीमि । केनेव ? वातायनेनेव । यथा वातायनेन गवाक्षेण अधिकार्थं स्थूलतरं गजाद्यर्थं स्थूलतरं गजाद्यर्थं कश्चित् निरूपयति ।।३।।

अन्वयार्थ—(शक्रः) इन्द्र ने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान (तत्याज) छोड़ दिया था । किंतु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुति के उद्योग को (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूँ । मैं (वातायनेन इव) झरोखे की तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़े से ज्ञान के द्वारा (ततः) झरोखे और ज्ञान से (अधिकार्थम्) अधिक अर्थ को (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूँ ।

भावार्थ—जिस तरह छोटे से झरोखे में झाँक कर उससे कई गुणी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, उसी तरह मैं भी अपने अल्प ज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ । मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों है । इसलिये मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता ।।३।।

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः ।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ।।४।।

तुम सब-दर्शी देव, किन्तु, तुमको न देख सकता कोई।
तुम सबके ही ज्ञाता, पर तुमको न जान पाता कोई।।
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ कहा न जाता हे भगवान्।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारा स्तवन महान्।। ४।।

टीका—भो जिन ! ततः कारणात् तव भगवतः स्तुतिस्त्वमेतावान् ईदृश इति प्रमातुं न पार्यसे। यतस्ततः स्तवनकरणे अशक्तिकथा तवास्तु भूयात्। अशक्तिः अशक्या कथा यस्यां सा। हे भगवन् ! त्वं विश्वदृश्वा। विश्वं पश्यतीति विश्वदृश्वा, सकलजीवादिपदार्थं साक्षात् द्रष्टेत्यर्थः। त्वं सकलैरदृश्यः निरूपत्वात्। त्वमशेषं लोकालोकाकाशं विद्वान् जानन्। केवलज्ञानविराजमानत्वात् निखिलैरवेद्यः, न वेत्तुं शक्यः त्वं कियान् कियत्परिमाणाधिकरणः कीदृशः इति वक्तुं अशक्यः, न शक्यः अशक्यः ।।४।।

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (विश्वदृश्वा अपि) सबको देखने वाले हैं किन्तु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते, आप (अशेषम् विद्वान्) सबको जानते हैं पर (निखिलैः अवेद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं (इति) यह भी (वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा जा सकता (ततः) उससे (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अतिशक्तिकथा) मेरी असामर्थ्य की कहानी ही (अस्तु) हो।

भावार्थ—आप सबको देखते हैं पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाण वाले हैं यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। इस तरह आपकी स्तुति मानों अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है। इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि आपकी स्तुति से इन्द्र ने अभिमान छोड़ दिया था पर मैं नहीं छोड़ूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है पर जब वे स्तुति करना प्रारंभ करते हैं और प्रारम्भ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सच में आपको देखने

की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है, जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्रने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गई यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो ।।४।।

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम् ।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः ।।५।।

बालक सम अपने दोषों से, जो जन पीड़ित रहते हैं।
उन सबको हे नाथ, आप, भवताप रहित नित करते हैं।।
जो अपने हित और अहित का, जो न ध्यान धरनेवाले।
उन सबको तुम बाल-वैद्य हो, स्वास्थ्य-दान करने वाले ।। ५ ।।

टीका—हे ब्रह्मन् ! त्वं सर्वस्य जन्तोः सकलभव्यप्राणिगणस्य । बालवैद्योऽसि बालचिकित्सोऽसि । संसारवर्त्तिनां भव्यजीवानां त्वमेव परोपकारी नान्य इति तात्पर्यार्थः। कथंभूतस्य जन्तोः मोक्षो मोक्षकारणं हितं । संसारः संसारकारणं अहितं । तयोरन्वेषणे विचारणे मान्द्यं । मन्दत्वं जडत्वं भजतीति । तस्य कुतो वैद्योऽसि ? यतः कारणात् त्वदाश्रितं सर्वं लोकमुल्लाघतां नीरोगतामबाधतां प्रापयसीत्यर्थः । कथं-भूतं लोकं ? आत्मदोषैः पूर्वजन्मोपार्जितकर्मभिर्व्यापीडितमबाधितं. कमिवं ? बालमिव । यथा कश्चन बालवैद्यो बालमुल्लाघतां नीरोगतां नयति । कीदृशं बालं ? आत्मदोषैर्वातादिभिर्व्यापीडितं व्याहतम् ।।५।।

अन्वयार्थ—(त्वम्) आपने (बालम् इव) बालक की तरह (आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधों से (व्यापीडितम्) अत्यन्त पीड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्यों को (उल्लाघताम्) नीरोगता (अवापिपः) प्राप्त कराई है। निश्चय से आप (हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः) भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए (सर्वस्य जन्तोः) सब प्राणियों के (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं ।

भावार्थ—जिस तरह बालकों की चिकित्सा करने वाला वैद्य अपनी भूल से पैदा किये हुए वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित बालकों के अच्छे-बुरे का ज्ञान कराकर उन्हें नीरोग बना देता है और अपने 'बाल वैद्य' इस नाम को सार्थक बना लेता है उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों को हित-अहित का बोध कराकर संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। इस तरह आपका भी 'बाल वैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है ।।५।।

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्य श्व इत्यच्युत ! दर्शिताशः ।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय ।।६।।

देने लेने का काम कुछ, आज कल्य परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा देकर के ।।
पर हे अच्युत, जिनपति, तुम यों पल भर भी नहिं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो ।। ६ ।।

टीका—भो अच्युत ! नताय नम्राय । क्षणेन क्षणमात्रेण अभिमतं मनोऽभिलषितं । दत्से यच्छसि । भो त्रिलोकैकनाथ ! अभिमुखायाभिमतफलं त्वदन्यः कोऽपि दातुं न प्रभवतीति भावार्थः । न च्युतः सम्यग्दर्शनादिस्वभावो यस्य स तस्यामन्त्रणे भो अच्युत ! विवस्वान् सूर्य इव त्वदन्यो अशक्तोऽसमर्थः पुमान् स दाता न हर्ता दातुमशक्यत्वात् । अद्य श्व इति दर्शिता आशा वाँछा येन सः । पक्षे प्रदर्शित दिग्मण्डलो भूत्वा । एवं सव्याजं यथा स्यात्तथा । दिवसं गमयति कालयापनां करोतीत्यर्थः ।।६।।

अन्वयार्थ—(अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से रहित जिनेन्द्रदेव ! (विवस्वान्) सूर्य (न दाता 'न' हर्ता) न देता है न अपहरण करता है सिर्फ (अद्यश्वः) आजकल (इति) इस तरह (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्ष में दिशा को] दिखाता हुआ

(अशक्तः सन्) असमर्थ हो (एवम्) ऐसे ही—बिना लिये-दिये ही (सव्याजम्) कपट सहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है, किन्तु आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिये (क्षणेन) क्षणभर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं ।

भावार्थ—लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़ शिर झुकाकर 'नमोनारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं, पर वह 'आज दूँगा कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ बिता देता है, किसी को कुछ देता-लेता नहीं है,—असमर्थ जो ठहरा । पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं । इस तरह आप सूर्य से बहुत बढ़कर हैं ।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम् ।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।।७।।

भक्तिभाव से सुमुख आपके रहनेवाले सुख पाते ।
और विमुख जन दुख पाते हैं, रागद्वेष नहिं तुम लाते ।।
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक सी रहती ज्यों ।
उसमें सुमुख विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों ।। ७ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वयि परमेश्वरे ! सुमुखः सम्यग्दृष्टिः । भक्त्या कृत्वा । स्वभावात् सहजतया । सुखानि सौधर्मेन्द्रनागेन्द्र-चक्रयादिजनितनानासातानि । उपैति प्राप्नोतीति भावः । च पुनस्त्वयि विषये विमुखः प्राणी मिथ्यादृष्टिदुःखं नारकतिर्यङ्निगोदजनिताऽसातमुपैति । तयोर्भाक्तिकाभाक्तिकयोस्त्वं भगवानेकरूपः । अवभासि शोभसे । क इव । आदर्श इव यथा आदर्शो मुकुरः सुमुखविमुखयोरंगिनोरेकरूपः शोभते । कीदृशस्त्वं ? सदाऽवदाता निर्मला द्युतिर्यस्य सः ।।७।।

अन्वयार्थ—(त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि) सुखों को (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है ।

किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला पुरुष दर्पण में अपना चेहरा देखकर सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से दुःखी होता है; उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है । दर्पण तो उन दोनों के लिये हमेशा एक रूप ही है, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है—आपकी भक्ति करता है वह शुभ कर्मों का बंध होने अथवा अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है वह अशुभ कर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है । उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं । आप तो हमेशा दोनों के लिये रागद्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं ।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र ।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव, व्यापत्वदीया भुवनान्तराणि ।।८।।

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ-थल की चौड़ाई ।
वहीं वहीं तक जहाँ जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई ।।
किन्तु नाथ, तेरी अगाधता और तुंगता, विस्तरता ।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रहो हे जगत्पिता ।। ८ ।।

टीका—भो देव ! अब्धेः समुद्रस्यागाधता गंभीरता यतो यावत्क्षेत्रं स पयोधिः समुद्रोऽस्ति तावत्येवास्ति । च पुनः । मेरोर्मंदरस्य तुंगा प्रकृतिरुन्नतस्वभावो यत्रेति यावत्क्षेत्रं स मेरुरस्ति तावत्येवास्ति ।

द्यावापृथिव्योर्गगनावन्यो: पृथुता विशालता तथैवेति यत्र तिष्ठतस्त-त्रैवेत्यर्थ:। त्वदीया सा गंभीरा तुंगता विशालता च भुवनान्तराणि लोकालोकमशेषं व्यापत् प्राप्नोति स्म। अनेन सर्वज्ञस्य महिमा लोकोत्तर: प्रकटित: ॥८॥

अन्वयार्थ—(अब्धे:) समुद्रकी (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहाँ है (यत: स: पयोधि:) जहाँ वह समुद्र है ! (मेरो:) सुमेरुपर्वतकी (तुङ्गा प्रकृति:) उन्नत प्रकृति=ऊँचाई (तत्र) वहाँ है (यत्र स:) जहाँ वह सुमेरु पर्वत है (च) और (द्यावा-पृथिव्यो:) आकाश-पृथिवी की (पृथुता) विशालता भी (तदैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथिवी हैं वहीं उनकी विशालता है। परन्तु (त्वदीया 'अगाधता, तुङ्गा प्रकृति: पृथुता च') आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालता ने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ—अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य-हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। 'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है। पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं। जमीन आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको अपनाने के भाव, सब के प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन् ! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथिवी का विस्तार भी उन्हीं के पास है, परन्तु आपकी अगाधता = धैर्यवृत्ति, ऊँचाई = अदैन्यवृत्ति और पृथुता=उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है। इसलिये जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथिवी के सदृश है, वे भूल करते हैं।

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्, त्वया न गीतः पुनरागमश्च ।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः, विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम् ।।९।।

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मतमें गाया ।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया ।।
त्यों आशा करके अदृष्टकी, तुम सुदृष्ट फलको खोते ।
यों तव चरित दिखें उलटे से, किंतु घटित सबही होते ।। ९ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वं विरुद्धवृत्तोऽपि विरुद्धचरणोऽपि समंजसः समीचीनः । लोकचरणाद्विरुद्धं वृत्तमाचरणं यस्य सः । तव मतेऽनवस्था परमार्थतत्त्वं वर्तते । अनवस्था विरुद्धपक्षे भ्रमणं । विरोधपरिहारपक्षे सर्वथा नित्यत्वमेकत्वमित्यादौ करूपताऽवस्था तदभावोऽनवस्था निश्चितार्थतत्त्वं । त्वया भगवता पुनरागमः पुनरावत्तिः न गीतः न कथितः । भो देव ! च पुनः । त्वं दृष्टं दृष्टफलं । विहाय परित्यज्य । अदृष्टमदृष्टफलमैषीर्वांछसि स्म । विरुद्धपक्षे दृष्टं दृष्टफलं । विरोध-परिहारपक्षे इन्द्रियसुखं । अदृष्टं अदृष्टफलं विरुद्धपक्षे । विरोधपरिहार-पक्षेऽतीन्द्रियसुखं । इति यावत् । विरुद्धपक्षे पुनरागमनं पुनरावृत्तिः । विरोधपरिहारपक्षे मुक्तजीवानां पुनरागमनाभावः ।।९।।

अन्वयार्थ—(अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता (तव) आपका (परमार्थतत्त्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोकसम्बन्धी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोकसम्बन्धी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं, इस तरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समंजसः) उचितता से युक्त हैं ।

भावार्थ—जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं—सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा । किन्तु आप उनके पुनरागमन को

संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर अप्रत्यक्षपरभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता, परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्यत् के सुख प्राप्त करने का इच्छा से उद्योग करते हैं, यह भी विरुद्ध बात है। पर जब इन दोनों बातों का तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं तब वे दोनों ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है। यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है —सिद्धों में भी होता है तथापि द्रव्य-दृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप भी हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है, इसलिये सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है। इसी तरह आपने वर्तमान के क्षणभंगुर-इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नही हो सकता जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिये प्रत्यक्ष के अल्प सुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त न करना चाहेगा ? इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है ॥९॥

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन् , उद्धूलितात्मा यदि नाम शंभुः ।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः, किं गृह्यते येन भवानजागः ॥१०॥

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिये यह उसकी धूल ।
शंभु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल ॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम ।
तुम निर्ग्रंथ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम ॥ १० ॥

टीका—भो देव ! भवतैव त्वयैव ! स्मरः कामः । सुदग्धः सुखेन दग्ध इत्यर्थः । यदि नाम निश्चयेन । तस्मिन्भस्मितात्मनि भस्मरूपे

शम्भुरीश्वरः: उद्धूलितो लुठितत्वाल्लिप्त आत्मा यस्य सः। ईश्वरेण कामो दग्ध इत्यसत्यमीति सूचितं। विष्णुर्नारायणो वृन्दोपहतोपि सन् अशेत। सागरमध्ये सकलपरिग्रहानूल्लसन्नपि वैचित्येन सुप्तवान्। येन कारणेन भवान् त्वं अजागः। जाग्रदवस्थामिवान्वभूः अत आह। ततः सकाशात्। येन कारणेन कामेन किं वस्तु गृह्यते? ॥१०॥

अन्वयार्थ—(स्मरः) काम (भवता एव) आपके द्वारा (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है (यदि नाम शम्भुः) यदि आप कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धूलितात्मा) कलंकित हो गया था। और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः 'सन्') वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित हो (अशेत) शयन किया था[1] (येन) यतश्च (भवान् अजागः) आप जागृत रहे। अर्थात् काम निद्रा में अचेत नहीं हुए, इसलिये (किं गृह्यते) कामदेव के द्वारा आपकी कौन-सी वस्तु ग्रहण की जाती है, अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ—हे भगवन्! जगद्विजयी कामको आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था वह ठीक नहीं, क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत हो तरह-तरह की कामचेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा ही आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका।

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा, तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव! स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥११॥

---

१. अथवा वृन्द-स्त्री पुत्रादि समस्त परिग्रह के समूह से पीड़ित हो।

और देव हों चाहे जैसे, पाप सहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥
जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बढ़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कहीं बढ़ जाती है॥ ११॥

टीका—भो देव ! स हरिहरादिप्रसिद्धः परो देवः। नीरजाः पापरहितः स्याद्वा अथवा स देव अघवान् पापसहितः स्यात्। तद्दोषकीर्त्यैव ते तव भगवतः गुणित्वं न गुणवत्ता न। निर्गत रजो यस्मात्स नीरजाः। अघं पापं विद्यते यस्य सः। तेषां हरिहरादिदेवानां दोषास्तेषां कीर्तिः कथनं तया। गुणा विद्यन्ते यस्य स तस्य भावो गुणित्वं। अम्बुराशेः समुद्रस्य स्वत एवं महिमास्ति। जलाशयस्याख्यातसरोवरादिस्तोकापवादेन न स्यात्। तुच्छत्वख्यापनलक्षणदूषणेन न भवेत्। स्तोकः स्वल्प इति यो हि अपवादस्तेन ॥११॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पाप रहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् 'स्यात्') पाप सहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषों के वर्णन करने मात्र से ही (ते) आपकी (गुणित्वम् न) गुण सहितता नहीं है। (देव) हे देव ! (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभाव से ही होती है (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है' इस तरह तालाब वगैरह की निन्दा से नहीं होती।

भावार्थ—हे भगवन् ! दूसरे के दोष बतला कर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते, क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। सरोवर को छोटा कह देने मात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती, किन्तु विशालता उसका स्वभाव है इसलिये वह विशाल—बड़ा कहलाता है।

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिम् नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हितयोर्भवाब्धौ, जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥१२॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जग-जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नौका नाविक के जैसे, इस गहरे भव-सागर में।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥ १२॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! जन्तुः प्राणी। कर्मस्थितिमनेकभूमिं नानावस्थां नयति प्रापयति। कर्मणां स्थितिस्तां। च पुनः सा कार्यस्थितिः अमुं जन्तुमनेकभूमिं नयति हि निश्चितं। भवाब्धौ तयोर्जीवकर्मणोः परस्परस्यान्यो न्यस्य नेतृभावं नेतृत्वं प्रापकत्वं आख्यः कथयसि स्म। कयोरिव ? नौनाविकयोरिव। यथा नौर्नाविकमनेकभूमिं नयति यथा नाविको नावमनेकभूमिं नयति॥१२॥

अन्वयार्थ—(जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मों की स्थितिको (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मों की स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेक-भूमिम्) अनेक जगह ले जाती है। इस तरह (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव ! (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्र में (नौनाविकयोः इव) नाव और खेवटिया की तरह (तयोः) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है।

भावार्थ—सिद्धान्त-ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते जबतक फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म-मरण कर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिये कहा गया है कि कर्म ही जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं। हे भगवन् ! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व इस तरह कहा है

जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है ।।१२।।

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्, धर्माय पापानि समाचरन्ति ।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं, निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ।।१३।।

गुणके लिये लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्महेतु पापों में पड़ते, पशुवधादिको कह निर्दोष।।
सुखहित निज तनको देते हैं, गिरिपातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल।। १३ ।।

टीका—भो देव ! अत्वदीयास्त्वत्तः पराङ्मुखाः पुमांसः । स्फुटं निश्चितं सुखाय सुखार्थं । दुःखानि समाचरंति । गुणाय गुणार्थं दोषान् समाचरंति । धर्माय धर्मार्थं । पापानि समाचरंति । पुनः बालस्तैलाय तैलार्थं । सिकतासमूहं वालुकापुंजं । निपीडयंति पीलयन्तीत्यर्थः ।।१३।।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार (बालाः) बालक (तैलाय) तेल के लिये (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आपके प्रतिकूल चलने वाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिये (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुण के लिये (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिए (पापानि) पापों को (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता इसलिये वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं ! वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्त कर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेश कर दुःख उठाते हैं, पर सकाम तपस्या का कोई फल नहीं होता, इसलिये वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं । 'हममें शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो' ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी-क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं, पर उन देवों की

शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है। इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो ! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियायें उन बालकों जैसी हैं जो कि तैल पाने की इच्छा से बालू के पुंज को कोल्हू में पेलते हैं।

विषापहारं मणिमौषधानि, मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति, पर्यायनामानि तवैव तानि ।।१४।।

विषनाशक मणि मंत्र रसायन, औषध के अन्वेषण में।
देखो तो ये भोले प्राणी, फिरे भटकते वन में।।
समझ तुम्हें ही मणिमंत्रादिक, स्मरण न करते सुखदायी।
क्योंकि तुम्हारे ही हैं ये सब, नाम दूसरे पर्यायी ।। १४ ।।

टीका—विषान्यपहरतीति विषापहारस्तं। मणिं तथौषधानि तथा मंत्रं च पुनः। रसायन सिद्धरसं समुद्दिश्य भ्राम्यंति भ्रमणं कुर्वंति। अहो इति खेदे। त्वं इति न स्मरंति जना इति शेषः। इतीति किं? एतानि विषापहारमण्यादीनि तवैव भगवतः पर्यायनामानि अपरनामानि इत्यर्थः ।।१४।।

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विष को दूर करने वाले (मणिम्) मणि को (औषधानि) औषधियों को (मन्त्रम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उद्देश्य कर (भ्राम्यन्ति) यहाँ-वहाँ घूमते हैं, किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं, और रसायन हैं (इति) ऐसा (स्मरन्ति) ख्याल नहीं करते। क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका

स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है। कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता धनंजय कवि के लड़के को साँप ने डस लिया, तब वे अन्य उपचार न कर उसे सीधे जिनमन्दिर में ले गये और वहाँ विषापहारस्तोत्र रचकर भगवान् के सामने पढ़ने लगे। उनकी सच्ची भक्ति के प्रभाव से पुत्र का विष दूर होने लगा, और वे ज्यों ही "विषापहारं मणिमौषधानि" इस श्लोक को पढ़कर पूरा करते हैं, त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है—उसका विषविकार बिल्कुल दूर हो जाता है। कवि ने स्तोत्र को पूरा किया और इसके पाठ से विष-विकार दूर हुआ था, इसलिये इसका नाम 'विषापहार' स्तोत्र प्रचलित किया ॥१४॥

चित्ते न किं चित्कृतवानसि त्वम् देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम् ।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रम्, सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥१५॥

हे जिनेश, तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥
वह निज-करमें कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तव मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥१५॥

टीका—भो देव ! त्वं चित्तेऽन्तःकरणे कंचित् कमपि पुमांसं न कृतवान् असि वर्तसे। येन पुंसा चेतसि देवस्त्वं कृतः अन्तःकरणे त्वं देवो धृतः। तेन पुंसा सर्वं विचित्रं जगत् हस्ते कृतं। स पुमान् सर्वं जगत् हस्तामलकवत् जानातीति भावः। चित्तबाह्योऽपि सुखेन जीवति ॥१५॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदय में (किञ्चित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) नहीं करते हैं—रखते हैं, किन्तु (येन) जिसके द्वारा (देवः) आप (चेतसि) हृदय में (कृतः) धारण किये हैं (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथों में कर लिया गया है—अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है यह (विचित्रम्) आश्चर्य की

बात है। और आप (चित्तबाह्यः अपि) चेतन से रहित हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं यह आश्चर्य है।

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है—यदि मोहन के शरीर पर पाँच हजार के आभूषण हैं तो वह मोहन जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है, तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता। पर यहाँ विचित्र ही बात है। आपके चित्त में भी कुछ नहीं है, पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है। इस विरोध का परिहार यह है—यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिये कुछ भी नहीं है, और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं अमुक मनुष्य के लिये अमुक वस्तु दूँ। फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभ कर्मों का बन्ध कर उनके उदय-काल में सब कुछ पा लेते हैं। अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है—उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं आज आपको चित्त में धारण कर सका, मानों तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ हमारे हाथ में आ गई।

दूसरा विरोध यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। अभी जो चेतन से रहित हो जाता है वह मृत कहलाने लगता है, पर यहाँ उससे विरुद्ध बात है। विरोध का परिहार यह है कि, आप चित्तबाह्य-अर्थात् मन से चिन्तवन करने के अयोग्य होते हुए भी अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं—आप अजर-अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आप में अनंत सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपका मन से चिंतवन भी नहीं कर पाते ॥१५॥

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकीस्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत् तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम् ॥१६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर॥ १६॥

टीका—भो देव ! त्वं त्रिकालं तत्त्वमवैर्जानासि स्म। त्रयश्च ते कालश्च त्रिकालास्तेषां तत्त्वं। कुत इति अमीषां कालानां संख्यानियतेः कालास्त्रय एव संति नान्ये इति संख्यानियमात्। भो देव ! त्वं त्रिलोकी स्वामी असि त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी। तस्याः स्वामी कुत इति ? अमीषां लोकानां संख्यानियतेः। इतीति किं ? यतो लोकास्त्रय एव संति नान्ये इति संख्याया निश्चयात्। तेऽन्ये इतरेपि काला लोकाश्च नाभविष्यन्। अभविष्यन् चेत् यदि ते काला लोकाश्चान्येऽभविष्यन् तर्हि अमून् कालान् लोकान् अप्यपीदं बोधाधिपत्यं व्याप्स्यत्शश्वत् काला लोकाश्च अन्ये न सन्तीत्यर्थः॥१६॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत, भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवैः) जानते हैं, तथा (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य, पाताल, तीनों लोकों के स्वामी हैं। (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है, परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि (इदम्) ज्ञान (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) वे तथा और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (अमून्अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात को जानते हैं, इसलिये आप का ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है। किंतु आपके ज्ञानका साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है। यदि इनके सिवाय और भी होते तो, ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता॥१६॥

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं, नागम्यरूपस्य तवोपकारी ।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोरुद्बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥१७॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है ।
हे अगम्य अज्ञेय न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है ॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव ।
करने वाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव ॥ १७ ॥

टीका—भो देव ! नाकस्य पत्युर्देवेन्द्रस्य रम्यं परिकर्म परिचर्यादिकं तवागम्यरूपस्योपकारी न । अगम्यमलक्ष्यं रूपं यस्य स तस्य । यदि भगवत उपकारी न तर्हि किं निष्फलं जातं । तस्यैव सेवा तत्परस्य इंद्रस्यैव । स्वस्यात्मनः सुखस्य हेतुः कारणं । कस्येव ? भानोरिव । यथा भानोः सूर्यस्य छत्रमादरेणोद्बिभ्रत ऊर्ध्वं धरतः पुरुषस्यैवोपकारी तापहारी भवति छत्रं सूर्यस्योपकारी न भवति ॥१७॥

अन्वयार्थ—(नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय है स्वरूप जिनका ऐसे (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है, ऐसे (भानोः) सूर्यके लिये (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्बिभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवाले की तरह (तस्य एव) उस इन्द्र के ही (स्वसुखस्य) आत्म-सुख का (हेतुः) कारण है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई सूर्य के लिये छत्ता लगावे, तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य छत्ता लगानेवाले से बहुत ऊपर है, परन्तु छत्ता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है । उसी प्रकार इन्द्र जो आपकी सेवा करता था ? क्योंकि वह वास्तव में आपके स्वरूप को समझ ही नहीं सका था । उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता था ॥१७॥

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः, स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः ।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वम् तन्नो यथातथ्यमवेविचंते ॥१८॥

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख-विरुद्ध आदेश ? ।।
और जगत को प्रियता भी तब, संभव कैसे हो सकती ? ।।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुम में कैसे रह सकती ? ।। १८ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वमुपेक्षकः क्व सुखोपदेशः क्व । द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः । उपेक्षा—तृणादिकमिदं न त्याज्यं, इदं सुवर्णादिकं न ग्राह्यं इत्येवमाकारका बुद्धिर्यस्य स उपेक्षक एवंविधस्त्वं क्व ? सुखस्योपदेशः सुखोपदेशः ! स क्व । चेदपि सुखोपदेशः, तर्हीच्छाप्रतिकूलवादो न भवति । वा अथवाऽसावुपेक्षः क्व । सार्वजगत्प्रियत्वं क्व । यः पुमानुपेक्षकस्तस्य पुंसः सर्वं यज्जगत्तस्य प्रियत्वं न संजाघटीति । त्वमुपेक्षकस्तव सर्वजगत्प्रियत्वं । तत्तस्मात्कारणात् ते तव परमेश्वरस्य यथातथ्यं अहं नावेविचं नाबूबुधम् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(उपेक्षकः त्वम् क्व) रागद्वेष रहित आप कहाँ ? और (सुखोपदेशः क्व) सुख का उपदेश देना कहाँ ? (चेत्) यदि (सः) सुख का उपदेश आप देते हैं (तर्हि) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है ? अर्थात् आप के इच्छा नहीं है, ऐसा कथन क्यों किया जाता है ? (असौ क्व) इच्छा के प्रतिकूल बोलना कहाँ ? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम् क्व) सब जीवों को प्रिय होना कहाँ ? इस तरह जिस कारण से आपका प्रत्येक बात में विरोध है, (तत्) उस कारण से मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता—असली रूप का विवेचन नहीं कर सकता ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप रागद्वेष से रहित हैं, तब किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं ? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं ? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं, तो जगत् के सब जीवों को प्यारे कैसे हैं ? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर में विरुद्ध हैं । दरअसल आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता ।।१८।।

तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च, प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ।।१९।।

तुम समान अति तुंग किंतु निधनों से, जो मिलता स्वयमेव ।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव ।।
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं ।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि से, नहीं निकलतीं, झरती हैं ।। १९ ।।

टीका—भो देव ! अकिंचनाच्च तुंगात् उच्चैस्तरात् यत्फलं प्राप्यं लभ्यं तत्फलं समृद्धादैश्वर्यात् । धनेश्वरादेर्न प्राप्यं न लभ्यं । कस्मा-दिवाद्रेरिव । यथा निराम्भसोऽपि निरुदकात् उच्चतमात् अद्रेः पर्वतात् सकाशात् धुनी नदी निर्याति निर्गच्छतीत्यर्थः । साम्भसोऽपि पयोधेः समुद्रादेकापि धुनी न निर्याति । तथाऽसंगात् उच्चतमाद्भवतः सकाशात् यत्फलं लभ्यते तत्फलं समृद्धादप्यन्यस्मान्नेति तात्पर्यम् ।।१९।।

अन्वयार्थ—(तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् 'अस्ति') प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है । ठीक ही तो है, (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है ।

भावार्थ—पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है । परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है, इसलिये उससे कई नदियाँ निकलती हैं, परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती । इसका कारण है समुद्र में ऊँचाई का अभाव । भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है । परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है—दीन नहीं है, इसलिये आपसे हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से मिल नहीं सकती, क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं ।।१९।।

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं, दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य ।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं, तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु ।।२०।।

करो जगत-जन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दंड विनय से लिया, इसलिये प्रातिहार्य पाया उसने।।
किन्तु तुम्हारे प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे?
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?।।२०।।

टीका—भो देव! इन्द्रो विनयेन कृत्वा त्रैलोक्यस्य सेवा तस्या नियमो निश्चयस्तस्मै। यत् यदि चेद्दण्डं दध्रेऽदधात् तर्हि तस्य इन्द्रस्य प्रातिहार्यं भवतस्तव कुतस्त्यं। प्रतिहारस्य भावः प्रातिहार्यं। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तस्य तीर्थकृन्नामकर्मणो योगात् तव भगवतो अस्तु ।।२०।।

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा के नियम के लिये अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा, और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा, इस उद्देश्य से (दण्डम्) दण्ड (दध्रे) धारण किया था। (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रतीहारपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कहाँ से आया? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थंकरनामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य—प्रतीहारपना हो।

भावार्थ—जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिये दण्ड धारण किया था। अर्थात् प्रतीहार पद स्वीकार किया था। जो कि किसी काम की व्यवस्था करने के लिये दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतीहार कहते हैं। जैसे कि आज-कल लाठी धारण किये हुए वालिण्टयर—स्वयंसेवक। प्रतीहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था

की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य—प्रतीहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है ? क्योंकि आपने प्रतीहार का काम थोड़े ही किया था ! फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है । क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे ।

अथवा श्लोक का ऐसा भी भाव हो सकता है—'तीन लोक के जीव भगवान् की सेवा करो' इस नियम को प्रचलित करने के लिये इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था—इसलिये प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही बन सकता है, आपके नहीं । अथवा आपके भी हो सकता है, क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया के कर्मकारक का सम्बन्ध होता था । यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है—लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है । भगवान् के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य—आभूषण होते हैं । यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं । इन्द्र के प्रातिहार्य—प्रतिहारपना हो, पर आपके प्रातिहार्य—आभूषण कहाँ से आये ? फिर उपचार पक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं । उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौंदर्यवृद्धि के साथ सम्बन्ध होना है ।।२०।।

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः श्रीमान कश्चित्कृपणं त्वदन्यः ।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमः स्थम् ।।

धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं ।
पर निधनों को तुम सिवाय जिन, कोई भला न कहते हैं ।।
जैसे अन्धकारवासी उजियालेवाले को देखे ।
वैसे उजियालावाला नर, नहिं तमवासी को देखे ।। २१ ।।

टीका—भो देव ! त्वत्तः सकाशात् अन्यः कः निस्वः दरिद्रिश्रिया लक्ष्म्या परमुत्कृष्टं साधु यथा स्यात्तथा पश्यति विलोकयति । त्वदन्यः

श्रीमान् कृपणं साधु न पश्यति। यथा अन्धकारस्थायी पुमान् प्रकाशस्थितं पुरुषमीक्षते पश्यति तथाऽसौ प्रकाशस्थायी पुमान् तमस्थं नेक्षते नालोकयति। प्रकाशे स्थितस्तं। अन्धकारे तमसि तिष्ठतीतितम् ।।२१।।

अन्वयार्थ—(निःस्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम्) लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को (साधु) अच्छी तरह आदरभाव से (पश्यति) देखता है, किन्तु (त्वदन्यः) आपसे भिन्न (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धन को (साधु न पश्यति) अच्छे भावों से नहीं देखता। ठीक है (अन्धकारस्थायी) अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाशस्थितम्) उजाले में ठहरे हुए पुरुष को (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है (तथा) उसी प्रकार (असौ) उजाले में स्थित पुरुष (तमःस्थम्) अँधेरे में स्थित पुरुष को (न ईक्षते) नहीं देख पाता।

भावार्थ—हे प्रभो ! संसार के श्रीमान् निर्धन पुरुषों को बुरी दृष्टि–निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान् होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते। उन्हें भी अपनाकर हित का उपदेश देकर सुखी करते हैं। इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमानों से भिन्न ही श्रीमान् हैं। दोनों की श्रीलक्ष्मी में भेद जो ठहरा। उनके पास रुपया, चाँदी, सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है, पर आपके पास अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी है ।।२१।।

स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि, प्रत्यक्षत्मानुभवेपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ।।२२।।

निज शरीर की वृद्धि श्वास–उच्छ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें ऐसा भी अनुभव अपना।।
कर न सकें जो तुच्छबुद्धि वे, हे जिनवर ! क्या तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप ? ।।२२।।

टीका—लोक आत्मानुभवेऽपि निजस्वरूपानुभवेऽपि । प्रत्यक्षं साक्षात् । मूढो मूर्खो वर्तते । आत्मनोऽनुभव: आत्मानुभवस्तस्मिन् । च पुन: लोकोऽखिलज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपं अध्यक्षं मम प्रत्यक्षं किमवैति जानाति ? अपि तु न जानातीत्यर्थ: । अखिलाश्च ते ज्ञेया: पदार्थास्तेषां विवर्तिन: पर्यायास्तेषां बोधस्तस्य स्वरूपं तत्त्वं । कथंभूते आत्मानुभवे ? स्ववृद्धिनिश्वासनिमेषभाजि । स्ववृद्धिश्च निश्वासश्च निमेषाश्च तान् भजतीति तस्मिन् ।।२२।।

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि (य:) जो मनुष्य (स्ववृद्धिनि:श्वासनिमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्‌वास और आँखों की टिमकार को प्राप्त (आत्मानुभवे अपि) अपने आपके अनुभव करने में (मूढ:) मूर्ख है, (स लोक:) वह मनुष्य (अखिलज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान ही है स्वरूप जिसका ऐसे (अध्यक्षम्) अध्यात्मस्वरूप आपको (किं च अवैति) कैसे जान सकता है ?

भावार्थ—भगवन् ! जो मनुष्य आपने आपको स्थूल पदार्थों को भी जानने के लिए समर्थ नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है ? अर्थात् नहीं जान सकता ।।२२।।

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव, त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं, पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ।।

'उनके पिता' 'पुत्र हैं उनके', कर प्रकाश यों कुल की बात ।
नाथ; आपकी गुण-गाथा जो, गाते हैं रट-रट दिनरात ।।
चारु चित्तहर चामीकर को, सचमुच ही वे बिना विचार ।
उपल-शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार ।। २३ ।।

टीका—भो देव ! ये लोकास्त्वां भगवन्तं अवगायंति । किं कृत्वा तस्य श्रीनाभेरात्मज: पुनस्तस्य श्रीभरतचक्रवर्तिन: पितेत्यमुना प्रकारेण कुलं प्रकाश्य प्रकटीकृत्य । ते पुरुषा अद्यापि ननु निश्चितं । पाणौ

करकमले। कृतं हेम सुवर्णं अवश्यं निश्चितमाश्मनं पाषाणोद्भवं इति विलोक्य पुनस्त्यजति जहतीत्यर्थः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य आत्मजः) उसके पुत्र हो और (तस्य पिता) उसके पिता हो (इति) इस प्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुल का वर्णन कर (त्वाम् अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं, (ते) वे (अद्य अपि) आज भी (पाणौ गतम्) हाथ में आये हुए (हेम) सुवर्ण को (आश्मनम्) पत्थर से पैदा हुआ है, (इति) इस हेतु से (पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं ?

भावार्थ— एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है, फिर फेंक देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता। यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्य-कुल में पैदा बतला कर फिर भी छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है, चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनियाँ के किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी। और मैल सहित है—अशुद्ध है, तो किसी भी अच्छे पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती। इस प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है, भले ही उस पर्याय में नीच कुल में पैदा हुआ हो, वह पूज्य कहलाता है, और यदि वही आत्मा उच्च कुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है—मलिन है तो उसे कोई पूछता भी नहीं है ॥२३॥

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः, सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुं, मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः ॥२४॥

तीन लोक में ढोल बजाकर, दिया मोह ने यह आदेश।
सभी सुरासुर हुए पराजित, मिली विजय यह उसे विशेष॥
किंतु नाथ, वह निबल आप से, कर सकता था कहाँ विरोध।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद ॥ २४ ॥

टीका—भो देव ! मोहस्य मोहनीयकर्मणः । त्वयि विषये विरोद्धुं स्पर्धायितुं को मोहः भ्रमः । समानबलाय स्पर्धा न तु न्यूनाधिकयोः । तस्य मोहस्य स महान् लाभो यः सुरासुरा देवदानवादयोऽभिभूताः पराभूता इति त्रैलोक्ये पटहो दत्तः । कुत एवं भ्रमतः ? बलवद्भिः सह विरोधो मूलस्य नाशो भवति ।।२४।।

अन्वयार्थ—मोह के द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकों में (पटहः) विजय का नगाड़ा (दत्तः) दिया गया–बजाया गया उससे जो (सुरासुराः) सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुए (सः) वह (तस्य) उस मोह का (महान् लाभः) बड़ा लाभ हुआ, किन्तु (त्वयि) आपके विषय में (विरोद्धुम्) विरोध करने के लिये (मोहस्य) मोह को (कः) कौनसा (मोहः) भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (बलवद्विरोधः) बलवान के साथ विरोध करना (मूलस्य नाशः) मानो मूल का नाश करना है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को अपने वश में कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित रागद्वेषशून्य हैं ।।२४।।

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः, चतुर्गतीनां गहनं परेण ।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन, त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः ।।२५।।

तुमने केवल एक मुक्ति का, देखा मार्ग सौख्यकारी ।
पर औरों ने चारों गति के, गहन पंथ देखे भारी ।।
इस से सब कुछ देखा हम ने, यह अभिमान ठान करके ।
हे जिनवर, नहिं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके ।। २५ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वया भगवता । एकोऽद्वितीयो विमुक्तेर्मार्गो ददृशे दर्शितः । परेण हरिहरादिदेवेन । चतुर्गतीनां नरकतिर्यग्देवमनुष्यपर्याणां । गहनं ददृशे दर्शितं । भो देव ! मया सर्वं दृष्टमिति स्मयेनेत्यहंकारभरेण त्वं कदाचित् भुजं निजबाहुशिखरं मालुलोकः माद्राक्षीः । इति

निन्दास्तुत्यलंकारविष्टंभेन त्वमेव मुक्तोऽन्ये सर्वेऽपि संसारिणः इति तात्पर्यम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(त्वया) आपके द्वारा (एकः) एक (विमुक्तेः) मोक्ष का ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरों के द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियों का (गहनम्) सघन वन (ददृशे) देखा गया है, मानो इसीलिये (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है, (इति स्मयेन) इस अभिमान से (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजा को (मा आलुलोकः) नहीं देखा था।

भावार्थ—घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, पर आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजा की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं इसलिये मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा ? श्लोक का तात्पर्य यह है कि आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होने वाले हैं, परन्तु अन्य देवी-देवता अपने-अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं ।।२५।।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः, कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।
संसारभोगस्य वियोगभावो विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ।।२६।।

रवि को राहु रोकता है, पावक को वारि बुझाता है।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, जलनिधि को नाच नचाता है।।
ऐसे ही भव-भोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव।
तुम सिवाय सब की बढ़ती पर, घातक लगे हुए हैं देव।। २६।।

टीका—भो देव ! त्वत्तः सकाशात् अन्ये यावन्तः पदार्थाः सन्ति तावन्तो विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति। विपक्षपूर्वः शत्रुपूर्वः अभ्युदयो

भाग्यमेषां रो : अर्कस्य सूर्यस्य स्वर्भानुः राहुर्विघातोऽस्ति । हविर्भुजोऽग्नेरंभस्तोयं विघातं । अम्बुनिधेः समुद्रस्य कल्पान्तवातो विघातः । संसारभोगस्य स्रक्चन्दनवनितादेर्वियोगभावो विघातः । इति विपक्षपूर्वाः सर्वे । त्वमेव नेति भावः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(स्वर्भानुः) राहु (अर्कस्य) सूर्य का, (अम्भः) पानी का, (हविर्भुजः) अग्निका (कल्पांतवातः) प्रलयकाल की वायु (अम्बुनिधेः) समुद्र का तथा (वियोगभावः) विरहभाव (संसारभोगस्य) संसार के भोगों का (विघातः) नाश करनेवाला है, इस तरह (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्षपूर्वाभ्युदयाः 'सन्ति') विनाश के साथ ही उदय होते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्य स्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं, अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती है ।।२६।।

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्, तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति ।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः, तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ।।२७।।

बिन जाने भी तुम्हें नमन करने से जो फल फलता है ।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहिं मिलता है ।।
ज्यों मरकत को काच मानकर, करगत करनेवाला नर ।
समझ सुमणि जो काच गहे, उसके सम रहे न खाली कर ।। २७ ।।

टीका—भो नाथ ! त्वामष्टविधप्रातिहार्यविभवालंकृतं त्वामजानतो नमतः पुरुषस्य यत्फलं स्यात् । तु पुनरन्यं कंचन देवतेति जानतो नमतः पुरुषस्य तत्फलं न स्यात् । काचधिया काचबुद्ध्या हरिन्मणि नीलरत्नं दधानः पुमांस्तस्य हरिन्मणर्बुद्ध्या तं काच वहतः पुरुषात् सकाशात् रिक्तो न ।।२७।।

अन्वयार्थ—(त्वाम्) आपको (अजानतः) विना जाने ही (नमतः) नमस्कार करनेवाले पुरुष को (यत् फलम्) जो फल

होता है, (तत्) वह फल (अन्यो देवता इति जानतः) दूसरे को 'देवता है' इस तरह जाननेवाले पुरुष को (न तु) नहीं होता। क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणि को (काचधिया) काच की बुद्धि से (दधानः) धारण करनेवाला पुरुष (तं तस्य बुद्ध्या वहतः) हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करनेवाले पुरुष की अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपको नमस्कार करता है, पर आपके स्वरूप को नहीं जानता, उसे भी जो पुण्यबंध होता है, वह किसी दूसरे को देवता मानने वाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अनजान मनुष्य हरित मणि को पहन कर उसे काच समझता है, तो वह दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझ कर पहिन रहा है, निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं। श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्प ज्ञान भी प्रशंसनीय है ।।२७।।

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः, दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः ।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वम्, दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम् ।।२८।।

विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पंडित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं।।
जैसे 'बुझे हुए' दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल बिघट जाने को, 'मंगल हुआ' समझते हैं।। २८ ।।

टीका—प्रशस्ता प्रशस्या वाग् वाणी येषां ते चतुरा पुमांसः। कषायैः क्रोधमानमायालोभादिभिः। दग्धस्य पुंसः। देव परमेश्वरस्तस्य व्यवहारमाहुर्भणन्ति स्म। हि निश्चितं। तैः पुरुषै। गतस्य प्रनष्टस्य दीपस्य नंदितत्वं वर्धमानत्व दृष्टं। च पुनस्तै, कपालस्य खर्परस्य मंगलत्वं मांगल्यं दृष्टम् ।।२८।।

अन्वयार्थ—(प्रशस्तवाचः) सुन्दर बोली बोलनेवाले (चतुराः) चतुर मनुष्य (कषायैः दग्धस्य) कषायों से जले हुए

पुरुष के भी (देवव्यवहारम् आहुः) देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं । सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुए दीपक का (नंदितत्वं) बढ़ना (च) और (कपालस्य) फूटे हुए घड़े का (मङ्गलत्वम्) मङ्गलपन (दृष्टम्) देखा गया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! लौकिक मनुष्य रागी-द्वेषी जीवों को भी 'देव' शब्द से व्यवहार करते हैं, सो सिर्फ लोकव्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती । क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है । जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं कि दीपक बढ़ गया । और जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का कल्याण हो गया ।।२८।।

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्, हितं वचस्ते निशम्य वक्तुः ।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति, ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ।।२९।।

नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए ।
सुनकर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में लगे हुए ।।
वक्ता का निर्दोषपना जानेंगे, क्यों नहिं हे गुणमाल ।
ज्वरविमुक्त जाना जाता है, स्वर पर से सहजहि तत्काल ।। २९ ।।

टीका—भो देव ! तवदुक्तं त्वया प्रणीतमदः प्रसिद्धवचो । निशम्य श्रुत्वा । ते तव । वक्तुर्निर्दोषतां दोषरहितत्वं । के पुरुषा न विभावयन्ति । ज्वरेण मुक्तः पुमान् स्वरेण कृत्वा सुगमः सुखेन ज्ञेयो भवति । कीदृशं वचो ? नानाबहवोऽर्था यस्मिन् तत् । कथंभूत-मेकोऽद्वितीयः पूर्वापरविरोधरहितः अर्थो यस्मिन् तत् । पुनः हितं हितकारी । दोषन्निष्क्रान्तो निर्दोषस्तस्य भावस्ताम् ।।२९।।

अन्वयार्थ—(नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजन युक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुए (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनों को (निशम्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आपके जैसे वक्ता की

(निर्दोषताम्) निर्दोषता को (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते हैं, अर्थात् सभी करते हैं। जैसे (य:) जो (ज्वरेण मुक्त: 'भवति') ज्वर से मुक्त हो जाता है। (स:) वह (स्वरेण सुगम: 'भवति') स्वर से सुगम हो जाता है। अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है।

भावार्थ—आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं। यह प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है, पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित हैं। हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं, क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता, जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि वह ज्वर से मुक्त है, क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता ।।२९।।

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते, काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोग: ।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशु: स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ।।३०।।

यद्यपि जग के किसी विषय में, अभिलाषा तव रही नहीं।
तौ भी विमल वाणी तव खिरती, यदा कदाचित् कहीं-कहीं ।।
ऐसा ही कुछ है नियोग यह, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव।
ज्वार बढ़ाने को न ऊगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव ।। ३० ।।

टीका—भो देव ! तव भगवत: क्वापि कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि वांछा न। च पुन: वाग्ववृते प्रवर्त्तिता दिव्यध्वनि: प्रवर्त्तित इति भाव:। क्वचित्काले कोऽपि अनिर्वचनीयस्तथा नियोगोऽस्ति। शीतद्युतिश्चन्द्र: अम्बुधिं पूरयामीत्युदंशुर्न हि स्वयमभ्युपैति। उदेति क्वचित्काले कोऽपि यथा तस्य नियोगोऽस्ति तथैवेति भाव: ।।३०।।

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तु में (वाञ्छा न) इच्छा नहीं है, (च) और (वाक् ववृते) वचन प्रवृत्त

होते हैं । सचमुच में (क्वचित् काले) किसी काल में (तथा) वैसा (कः अपि नियोगः) कोई नियोग-नियम ही होता है । (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा (अम्बुधिम् पूरयामि) मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ (इति) इसलिये (उदंशुः न भवति) उदित नहीं होता किन्तु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभाव से ही उदित होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ, पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं, इसी प्रकार आपको यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ, पर वैसा स्वभाव होने से स्वयं ही आपके वचन प्रकट होने लगते हैं ।

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्नाः, बहुप्रकारा बहवस्तवेति ।
दृष्टोऽयमन्तस्तवने न तेषाम्, गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ।।

हे प्रभु, तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं, गहरे हैं ।
बहु प्रकार हैं, पाप रहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं ।।
स्तुति करते करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में ।
इनमें जो नहिं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में ।। ३१ ।।

टीका—भो नाथ ! तव भगवतो गुणा गभीराः अगाधाः । परमा उत्कृष्टाः । प्रसन्ना निर्मलाः । बहुप्रकारा नानाविधाः । बहवोऽनन्ता । इति स्तवनेन कृत्वा । गुणानामयन्तः पारो दृष्टस्तेषां गुणानामन्तः परः किमस्ति ।।३१।।

अन्वयार्थ—(तव) आपके (गुणाः) गुण (गभीराः) गम्भीर (परमाः) उत्कृष्ट (प्रसन्नाः) उज्ज्वल (बहुप्रकाराः) अनेक प्रकार के और (बहवः) बहुत (इति अयम्) इस प्रकार (स्तवनेन) स्तुति के द्वारा ही (तेषां गुणानां) उन गुणों का (अन्तो दृष्टः) अन्त देखा गया है । (अतः परः गुणानां अन्तः किम् अस्ति) इसके सिवाय गुणों का अन्त क्या होता है ? अर्थात् नहीं ।

भावार्थ—स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिये उनका अन्त हो जाता है, अन्य प्रकार से उनका अन्त संभव नहीं है ।।३१।।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या, स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि ।
स्मरामि देवं ! प्रणमामि नित्यम्, केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ।।

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल ।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ, प्रतिदिन प्रतिपल ।।
स्मृति करके सुमरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ ।
किसी यत्न से भी, अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ ।। ३२ ।।

टीका—भो देव ! हि निश्चितं । परं केवलं । स्तुत्या कृत्वा मनोऽभिलषितं न । तत्तस्मात्कारणात् भक्त्या देवमहं भजामि । च पुनः । देवं नित्यं स्मरामि । च पुनः । प्रणत्या देवं नित्यं प्रणमामि । हि निश्चितं प्राणिनां केनाप्युपायेन गुणानां फलं साध्यमुपार्जनीयं ।।३२।।

अन्वयार्थ—(स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती, (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति और नमस्कृति से भी होती है, (ततः) इसलिये मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, और (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिए ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृतिध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है, इसलिये मैं प्रतिदिन आप की स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ । क्योंकि मुझे जैसे बने तैसे अपना कार्य सिद्ध करना है ।।३२।।

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं, नित्यं परंज्योतिरनंतशक्तिम् ।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं, नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम् ।।३३।।

इसीलिये शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तानन्त अभिराम ।
पुण्य पाप बिन, परम पुण्य के कारण, परमोत्तम गुणधाम ।।
वन्दनीय, पर जो न और को, करैं वन्दना कभी मुनीश ।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश ।। ३३ ।।

टीका—ततस्तस्मात्कारणात् अहं त्रिलोकीनगराधिदेवं नमामि । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी सैव नगरं तस्याधिदेवः स्वामी तं । कीदृशं देवं ? नित्यं शश्वद्भावापन्नं । पुनः कथंभूतं ? परंज्योतिषा परं ज्ञानेनानंतवीर्यं यस्य स तं । पुनः कथंभूतं ? न विद्येते पुण्यपापे यस्य तं । पुनः परेषां प्राणिनां पुण्येहेतुः पुण्यकारणं तं । पुनः कथंभूतं ? वन्द्यं सुरा-सुरादिशतेन्द्रैस्तुत्यं । पुनः कथंभूतं ? अवंदितारं अवंदकं । वंदतेऽसौ वंदकः न वंदकोऽवंदकस्तं ।।३३।।

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिये (अहम्) मैं (त्रिलोकीनगराधिदेवम्) तीन लोक रूप नगर के अधिपति (नित्यम्) विनाश रहित, (परम्) श्रेष्ठ (ज्योतिः) ज्ञान ज्योतिस्वरूप (अनन्तशक्तिम्) अनन्तवीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य के कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अविन्दतारम्) किसी को नहीं वन्दनेवाले (भवन्तम्) आपको (नमामि) नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीन लोक के स्वामी हैं, आपका कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं, आपमें अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं । आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं, आपकी इस विचित्रता से मुग्ध होकर मैं आपके लिये नमस्कार करता हूँ ।।३३।।

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं, त्वां नीरस तद्विषयावबोधम् ।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैर्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ।।३४।।

जो नहिं शब्द स्वयं रस सपरस, अथवा रूप गंध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी।।
सब पदार्थ जो जानें, पर न जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको।। ३४ ।।

टीका—त्वा जिनेन्द्रमहमनुस्मरामि नित्यं ध्यायामि। कथंभूतं त्वां ? न विद्यते शब्दो यस्य स तं। न स्पर्शो यस्य स तं। न रूपगन्धौ यस्य स तं। रसान्निष्कान्तो यः स तं। पुनः त एव विषयाः स्पर्शरस-गंधवर्णशब्दास्तेषां। अवबोधो ज्ञानं यस्य स तं। सर्वस्य त्रैलोक्यस्य दंडाकारेण घनाकारेण माता प्रमापकस्तं। पुनः माया ज्ञानस्य विषयो मेयः न मेयोऽमेयस्तं। कैरन्यैर्लोकैः पुनः स्मारयतीति स्तार्यः न स्मार्यः अस्मार्यस्तं। अस्मारकमित्यर्थः ।।३४।।

अन्वयार्थ—(अशब्दम्) शब्द रहित, (स्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपगन्धम्) रूप और गन्ध रहित तथा (नीरसम्) रस रहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ-ध्यान करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तीक हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता, तथापि मैं अपने बाल-साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।।३४।।

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं, निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं, पतिं जिनानां शरणं व्रजामि ।।३५।।

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार॥ ३५॥

टीका—अहं तं जिनानां पतिं गणधरदेवानां स्वामिनं प्रति शरणं व्रजामि यामीत्यर्थः। कथंभूतं तं ? अगाधं गम्भीरमित्यर्थः। पुनः अन्यैर्लोकैः मनसाप्यलंघ्यं लंघितुमशक्यं। पुनः निष्किंचनमसंगं चतुर्विंशतिधापरिग्रहरहितत्वात्। पुनः अर्थवद्‌भिर्लोकैः प्रार्थितं। पदार्थवद्‌भिर्धनेश्वरैर्वा याचितं मनोभिलषितदातृत्वात्! पुनः विश्वस्य त्रैलोकस्य पारं प्राप्तं [illegible]त्वात्। अदृष्टपारं न दृष्टः पारो यस्य स तं॥३५॥

अन्वयार्थ—(अगाधम्) गम्भीर (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य (निष्किंचनम्) निर्धन होने पर भी (अर्थवद्‌भिः) धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित (विश्वस्य पारम्) सबके पारस्वरूप होने पर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार–अन्त कोई देख सका है, ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को (व्रजामि) प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर, धैर्यवान हैं। आपका कोई मन से भी चिंतवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है, तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं, आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं, ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ॥३५॥

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते, यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः पश्चान्न मेरुः कुलपर्वतोऽभूत्॥३६॥

मेरु बड़ासा पत्थर पहले, फिर छोटासा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नत रूप॥
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन-गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥ ३६॥

टीका—भो भगवन् ते तुभ्यं नमः। कथंभूताय ते? त्रैलोकस्याधोमध्योर्ध्वलोकोद्भूतजनस्य दीक्षोपदेशसूत्रगुरुस्तस्मै। यस्त्वं वर्द्धमानोऽपि सन् निजोन्नतः स्वयमेवोन्नतोऽभूत्। मेरुः सुदर्शनः। प्राग् पूर्वं। गण्डशैलः सन् पुनरद्रिकल्पः पर्वततुल्योऽभूत। पश्चाद्वर्द्धमानोऽपि कुलपर्वतः नाभूत् न बभूव॥३६॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु स्वरूप आपके लिये नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रम से उन्नति को प्राप्त हुए भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) हुए थे। (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा था।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पाद में विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं—अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं फिर भी निजोन्नत—अपने आप उन्नत हुए थे। जो चीज बढ़ रही है वह पहिले उससे छोटी ही होती है न कि बड़ी, पर यहाँ विपरीत बात यह है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे। क्योंकि मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमान पद श्लिष्ट है॥३६॥

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा, न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं, वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥३७॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात दिवस नहिं रोक सका ।
लाघव गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका ।।
एक रूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत ।
भक्ति-भार से झुककर उसको, करूँ वंदना परम पुनीत ।। ३७ ।।

टीका—अहं विभुं व्यापकं प्रभुं । वंदे नमस्करोमि । कथंभूतं तं ? कालस्य कला क्षणादिसलयस्तामतीतं रहितं । यस्य स्वयंप्रकाशस्य भगवतः तव दिवा दिवसो वा अथवा रात्रिर्बाध्यता बाधको न । तयोस्तव बाधकत्वमपि न । तव भगवतो लाघवं गौरवमपि न । कीदृशमेकरूपं ? एकमद्वितीयं ज्योतिर्लक्षणं रूपं यस्य स तम् ।।३७।।

अन्वयार्थ—(स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी । इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव हैं न गौरव भी, उन (एकरूपम्) एकरूप रहनेवाले और (कालकलाम् अतीतम्) काल-कला से रहित अर्थात् अन्त रहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वर की वन्दना करता हूँ ।

भावार्थ—स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास जिस प्रकार रात और दिन का व्यवहार नहीं होता; क्योंकि प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं, और रात के अभाव को दिन कहते हैं । जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता, और जब रात का व्यवहार नहीं है तब उसके अभाव में होने वाला दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है; आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिये आप बाधकत्व नहीं और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिये आप बाध्य नहीं हैं । जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता, और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर में सापेक्ष

हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघव ही है और न गुरुत्व ही। दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं, अर्थात् अनन्तकाल तक ऐसे ही रहे आवेंगे ।।३७।।

इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ।।

इस प्रकार गुणकीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान ।।
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह-याचना करने से फिर, लाभ कौनसा है जिनदेव ? ।। ३८ ।।

टीका—भो देव ! इत्यमुना प्रकारेण। स्तुतिं स्तवनं। विधाय दैन्यात् दीनभावात्। अहं वरं न याचे। त्वमुपेक्षकोऽसि। तरुं वृक्षं संश्रयतः पुरुषस्य। स्वतः स्वभावेन छाया स्यात्। तत्र प्रार्थना न लगति। छायया याचितया कः आत्मनः स्वस्य लाभो भवति न कोऽपीत्यर्थः ।।३८।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीन भाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं माँगता, क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं, राग-द्वेष से रहित हैं अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छाया की याचना से क्या लाभ है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्राय लड़के को आपके सामने लाया हूँ, इसलिये स्तुति कर चुकने के बाद मैं आप से यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें। क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप राग-द्वेष से रहित हैं, इसलिये न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते-छीनते भी हैं।

स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे जो मनुष्य वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता ।।३८।।

पुष्पिताग्रा छन्द

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव ! तथा कृपां मे, कोवात्मपोष्येसुमुखो न सूरिः ।।३९।।

यदि देने की इच्छा ही हो, या इस का कुछ आग्रह हो।
तो निज चरन-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो ।।
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शंका इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधी जन दया नहीं ।। ३९ ।।

टीका—भो देव ! अथानंतरं। यदि चेत्। दित्सा दातुमिच्छास्ति। वाऽथवा। उपरोधोऽनुग्रहोऽस्ति। तर्हि त्वय्येव सक्तां भक्तिबुद्धिः दिश देहि। भक्तेर्बुद्धिस्तां। भक्तिर्विद्यते यस्याः सा तां। भो देव तथा सा भक्तिबुद्धिः मे मम कृपां करिष्यते विधास्यतीति भावः। वा अथवा। आत्मनः स्वस्य पोषकः। सूरिः पंडितः। सुमुखो न स्यात्। आत्मपोषणे सर्वोऽपि सूरिः सुमुखो भवति ।।३९।।

अन्वयार्थ—(अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है (यदि वा) अथवा वरदान माँगो ऐसा (उपरोधः 'अस्ति') आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आपमें लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी भगवान् को (दिश) देओ। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव ! (मे) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वारि सूरिः) कौन पंडित पुरुष (सुमुखो न 'भवति') अनुकूल नहीं होता ! अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आप से यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे। मेरा विश्वास है कि आप मुझपर अपनी कृपा अवश्य करेंगे। क्योंकि

विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं ।।३९।।

पुष्पिताग्रा छन्द

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन, विनताय मनीषितानी भक्तिः ।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति, सुखा नियशो धनञ्जय च ।।

यथाशक्ति थोड़ी सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मनचाही, सामग्री देती जगभर की।।
इससे गूँथी गहे स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सौख्य सुयश को, तथा 'धनंजय' को शुचितर ।। ४० ।।

टीका—भो जिन ! यथा कथंचित् । विहिता निर्मिता । भक्तिर्विनताय नम्रीभूताय । मनीषितानि मनोऽभिलषितानि । वितरति ददाति । पुनस्त्वयि विषये नुतिविषया स्तुविषयिणी भक्तिस्त्वद्गोचरीभूता या भक्तिः । विशेषात् सुखानि च पुनर्यशश्च पुनर्धनं च पुनर्जयं च दिशति ददाति ।।४०।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह (विहिता) की गई (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिये (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरित) देती हैं, (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषय में की गई (नुतिविषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप की भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है ।।४०।।

इति धनञ्जयमहाकविकृतं विषापहारस्तोत्रम् समाप्तम् ।

विषापहार स्तोत्र भाषा

दोहा

आतम लीन अनन्त गुण, स्वामी ऋषभ जिनेन्द्र।
नित प्रति वन्दित चरण युग, सुर नागेन्द्र नरेन्द्र ॥१॥

चौपाई

विश्व सुनाथ विमल गुण ईश, विरहमान वन्दौं जिन बीस।
गणधर गौतम शारदमाय, वर दीजै मोहि बुद्धि सहाय ॥ २ ॥
सिद्ध साधु सत गुरु आधार, करूँ कवित्त आतम उपकार।
विषापहार स्तवन उद्धार, सुक्ख औषधी अमृतसार ॥ ३ ॥
मेरा मंत्र तुम्हारा नाम, तुम ही गारुड़ गरुड़ समान।
तुम सम वैद्य नहीं संसार, तुम स्याने तिहुँ लोक मझार ॥ ४ ॥
तुम विषहरण करन जग सन्त, नमो नमो तुम देव अनन्त।
तुम गुण महिमा अगम अपार, सुरगुरु शेष लहैं नहिं पार ॥ ५ ॥
तुम परमातम परमानन्द, कल्पवृक्ष यह सुख के कन्द।
मुदित मेरु नय मण्डित धीर, विद्यासागर गुण गम्भीर ॥ ६ ॥
तुम दधिमथन महा वरवीर, संकट विकट भय भञ्जन भीर।
तुम जगतारण तुम जगदीश, पतित उधारण विश्वं बीश ॥ ७ ॥
तुम गुणमणि चिन्तामणि राश, चित्रवेलि चितहरण चितास।
विघ्नहरण तुम नाम अनूप, मंत्र यंत्र तुमही मणिरूप ॥ ८ ॥
जैसे वज्र पर्वत परिहार, त्यों तुम नाम जु विषापहार।
नागदमन तुम नाम सहाय विषहर विषनाशक क्षणमाँय ॥ ९ ॥
तुम सुमरण चिंते मनमाँहि, विष पीवे अमृत हो जाहिं।
नाम सुधारस वर्षे जहाँ, पाप पङ्कमल रहै न तहाँ ॥१०॥
ज्यों पारसके परसे लोह, निज गुण तज कंचनसम होह।
त्यों तुम सुमरण साधे सूंच, नीच जो पावै पदवी ऊँच ॥११॥

तुमहिं नाम औषधि अनुकूल, महा मंत्र सर जीवन मूल ।
मूरख मर्म न जाने भेव, कर्म कलङ्क दहन तुम देव ॥१२॥

तुम ही नाम गारुड़ गह गहै, काल भुजङ्गम् कैसे रहै ।
तुम ही धनन्तर हो जिनराय, मरण न पावेको तुम ठाय ॥१३॥

तुम सूरज उदकाघट जास, संशय शीत न व्यापे तास ।
जीवे दादुर कर्द तोय, सुन लागी अकोलर होय ॥१४॥

तुम बिन कौन करै मुझ पार, तुम कर्त्ता हर्त्ता किरपाल ।
शरण आयो तुम्हरी जिनराज, अबमो काज सुधारो आज ॥१५॥

मेरे यह धन पूंजी पूत, साह कहैं घर राखो सूत ।
करौं बीनती बारंबार, तुम बिन कर्म करै को क्षार ॥१६॥

विग्रह ग्रह दु:ख विपति वियोग, और जु घोर जलंधर रोग ।
चरण कमल रज टुक तन लाय, कुष्ट व्याधि दीरघ मिट जाय ॥१७॥

मैं अनाथ तुम त्रिभुवन नाथ, मात पिता तुम सज्जन साथ ।
तुम सा दाता कोई न आन, और कहाँ जाऊँ भगवान ॥१८॥

प्रभुजी पतित उधारन आह, बाँह गहे की लाज निबाह ।
जहाँ देखो तहाँ तुम ही आय, घट घट ज्योति रही ठहराय ॥१९॥

बाट सुघाट विषम भय जहाँ, तुम बिन कौन सहाई तहाँ ।
विकट व्याधि व्यंतर जल दाह, नाम लेत क्षण माँहि विलाह ॥२०॥

आचार्य मानतुङ्ग अवसान, संकट सुमिरो नाम निधान ।
भक्तामर की भक्ति सहाय, प्रण राखें प्रगटे तिस ठाय ॥२१॥

चुगल एक नृप विग्रह ठयो, वादिराज नृप देखन गयो ।
एकीभाव कियो निःसन्देह, कुष्ट गयो कञ्चन सम देह ॥२२॥

कल्याणमन्दिर कुमुदचन्द्र ठयो, राजा विक्रम विस्मय भयो ।
सेवक जान तुम करी सहाय, पारसनाथ प्रगटै तिस ठाय ॥२३॥

गई व्याधि विमल मति लही, तहाँ फुनि सनिधि तुमही कही ।
भवसुदत्त श्रीपाल नरेश, सागर जल संकट सुविशेष ॥२४॥

तहाँ पुनि तुम ही भये सहाय, आनन्द से घर पहुँचे जाय ।
सभा दु:शासन पकड़ो चीर, द्रुपदी प्रण राखो कर धीर ।।२५।।
सीता लक्ष्मण दीनो साज, रावण जीत विभीषण राज ।
सेठ सुदर्शन साहस दियो, शूली से सिंहासन कियो ।।२६।।
वारिषेण नृप धरिहो ध्यान, ततक्षण उपज्यो केवलज्ञान ।
सिंह सर्पादिक जीव अनेक, जिन सुमिरे तिन राखी टेक ।।२७।।
ऐसी कीरति जिनकी कहूँ, साह कहै शरणागत रहूँ ।
इस अवसर जीवे यह बाल, मुझ सन्देह मिटे तत्काल ।।२८।।
बन्दी छोड़ विरद महाराज, अपना विरद निबाहो आज ।
और आलंबन मेरे नाहिं, मैं निश्चय कीनो मन माँहि ।।२९।।
चरण कमल छोड़ो ना सेव, मेरे तो तुम सतगुरु देव ।
तुम ही सूरज तुम ही चन्द, मिथ्या मोह निकंदन कंद ।।३०।।
धर्मचक्र तुम धारण धीर, विषहर चक्र विडारन वीर ।
चोर अग्नि जल भूत पिशाच, जल जङ्गम अटवी उदवास ।।३१।।
दर दुश्मन राजा वश होय, तुम प्रसाद गजें नहिं कोय ।
हय गज युद्ध सबल सामंत, सिंह शार्दूल महा भयवंत ।।३२।।
दृढ़ बंधन विग्रह विकराल, तुम सुमरत छूटें तत्काल ।
पायन पनहीं नमक न नाज, ताको तुम दाता गजराज ।।३३।।
एक उथाप थप्यो पुन राज, तुम प्रभु बड़े गरीबनिवाज ।
पानी से पैदा सब करो, भरी ढाल तुम रीती करो ।।३४।।
हर्त्ता कर्त्ता तुम किरपाल, कीड़ी कुञ्जर करत निहाल ।
तुम अनन्त अल्प मो ज्ञान, कँह लग प्रभुजी करों बखान ।।३५।।
आगम पन्थ न सूझे मोहि, तुम्हरे चरण बिना किम होहि ।
भये प्रसन्न तुम साहस कियो, दयावन्त तब दर्शन दियो ।।३६।।
साह पुत्र जब चेत भयो, हँसत हँसत वह घर तब गयो ।
धन दर्शन पायो भगवन्त, आज अङ्ग मुख नयन लसन्त ।।३७।।

प्रभु के चरण कमल में नयो, जन्म कृतारथ मेरी भयो ।
कर युग जोड़ नवाऊँ शीश, मुझ अपराध क्षमौ जगदीश ।।३८।।
सत्रह सौ पन्द्रह शुभ थान, नारनौल तिथि चौदस जान ।
पढ़े सुने तहाँ परमानन्द, कल्पवृक्ष महा सुखकन्द ।।३९।।
अष्ट सिद्धि नव निधि सो लहै, अचलकीर्ति आचार्य कहै ।
याको पढ़ो सुनो सब कोय, मनवांछित फल निश्चय होय ।।४०।।

दोहा

भय भञ्जन रञ्जन जुगत, विषापहार अभिराम ।
संशय तज सुमिरो सदा, श्रीजिनवर को नाम ।।४१।।

इति श्रीविषापहार स्तोत्र भाषा सम्पूर्ण

चतुर्विंशतिकास्तोत्र के रचयिता

भूपाल कवि

जम्बूद्वीप के आर्यखंड में भारतवर्ष में वाराणसी नामक प्रसिद्ध नगरी है। यह पावन भूमि श्री १००८ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ–पार्श्वनाथ की पावन जन्मभूमि है। इस नगरी में हेमवान नाम का प्रसिद्ध जैनधर्मानुयायी उदारचरित राजा था। राजा के सूर्य–चन्द की तरह दो प्यारे पुत्र थे। बड़े का नाम भूपाल और छोटे का भुजपाल था।

बालक जब पढ़ने योग्य हुए तब राजा ने श्रुतधर पंडित को बुलाया और धनमान से विभूषित करके दोनों बालक विद्याध्ययन के लिये सौंप दिये। दोनों को गुरु ने समदृष्टि से पढ़ाया परन्तु कर्मोदय की विचित्रता विचित्र है। बड़े पुत्र भूपाल को बिल्कुल भी ज्ञान नहीं हो पाया जबकि लघुपुत्र भुजपाल पिंगल, व्याकरण, तर्क, न्याय, राज्यनीति, सामुद्रिक, ज्योतिष, वैद्यक, शब्दशास्त्र आदि सभी विद्याओं में प्रवीण हो गया।

ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भूपाल को बहुत परिश्रम के साथ पढ़ाते रहे। वह भी स्वयं परिश्रम करता रहा, परन्तु मूर्ख ही रहा। मूर्ख भूपालकुमार जहाँ भी जाता, अनादर–तिरस्कार को प्राप्त होता। मन ही मन दुःखी रहता। राजदरबार, परिवार सब जगह उसकी हँसी होती थी। सब लोग उसका उपहास करने लगे। हेमवान राजा का प्यार भी शिक्षित पुत्र भुजपाल पर जितना अधिक था, भूपाल कुमार का वे उतना ही उपहास करते थे।

जगह–जगह अपमान, तिरस्कार से पीड़ित, निरुपाय, दुःखी, मूर्ख, अपनी अशिक्षित दशा से खेदखिन्न हो छोटे भाई से ज्ञानवृद्धि का उपाय पूछते हैं। लघु भ्राता भुजपाल कहते हैं—भैया ! श्री भक्तामर जी स्तोत्र का ६वाँ काव्य ऋद्धि–मंत्र सहित सीखकर आराधना कीजिये।

श्रद्धालु राजकुमार भूपाल ने गंगा नदी के किनारे जाकर शुद्धता

पूर्वक मन्त्र की आराधना करना प्रारंभ कर दिया। एकाग्रता से मन्त्र जाप्य के प्रभाव से ब्राह्मी देवी प्रकट होकर राजकुमार से कहने लगीं—

देवी—रे बालक ! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है ?

बालक—माँ, मैं मूर्ख हूँ, ज्ञान प्राप्ति के लिये मैंने आपका स्मरण किया है। मेरा अज्ञान दूर करो।

देवी 'तथास्तु' कहकर, अपने स्थान को चली गई।

भूपाल पर विद्या इस तरह प्रसन्न हुई कि वे संस्कृत, व्याकरण, न्याय-अलंकार आदि के धुरन्धर विद्वान् हो गये। काशी नगर में उनकी बराबरी करने वाला कोई विद्वान् नहीं रहा था। वे महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। "भूपाल चतुर्विंशतिका" स्तोत्र की रचना कर आपने जिन-दर्शन की महिमा का अपूर्व फल जनमानस के स्मृति-पटल पर अंकित करने का महाप्रयास किया है।

●

श्री भूपालकविप्रणीता

जिनचतुर्विंशतिका

संस्कृत टीकाकार

पं० प्रवर आशाधरकृत मंगलाचरण

प्रणम्य जिनमज्ञानां संज्ञानाय प्रचक्षते ।
आशाधरो जिनस्तोत्रं श्रीभूपालकवेः कृतम् ॥१॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत् ।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥ १ ॥

सुकवि धन्यकुमारजी 'सुधेश' कृत हिन्दी-पद्यानुवाद

जो अभीष्टप्रद तथा कल्प दलके, समान सत्कान्ति-निकेत ।
जिनवर के पद-युग का दर्शन, प्रातः करता भक्ति समेत ॥
वह होता श्रीसौध, महीका, कुल-गृह यश का लीलागार ।
सरस्वती का सद्म विजयश्री का, आलय उत्सव-भण्डार ॥ १ ॥

टीका—श्रियो लक्ष्म्याः लीलायतनं विलासगृहं यः प्रातर्जिनाङ्घ्रिद्वयं द्रष्टा स्यात् भवेत् । भवितुमर्हतीत्यर्थः । स्यादित्यत्र, 'तृज्याश्चार्हे' इत्यनेन लिङ् । श्रीलीलायतनमित्यत्र लीलाग्रहणमायतनार्थस्य चारुत्वप्रत्यायनार्थम् । च पुनस्त्वं चात्र वसन्त्या लक्ष्म्या विपदुपनिपातातङ्कशङ्कानिरासः । काव्यगुणश्चात्रौदार्य्यम् ॥ यदाह वाग्भट्ट :—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः,
मिलितानां यदाधानं तदौदार्य्यं स्मृतं यथा ।
गन्धेभविभ्राजितधामलक्ष्मी लीलाम्बुजछत्रमपास्य राज्यम्,
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥ १ ॥

तथा मह्याः पृथिव्यास्तात्स्थ्यात्तद्गणश्रिमाणां कुलगृहं तेषां तदनुरागस्य वा प्रसूतिहेतुत्वात् स स्यात् । तथा कीर्तेर्यशसः प्रमोदास्पदमानन्दमन्दिरं पुरुषान्तरवृत्तिनिरोधित्वात् स, स्यात् तथा वाग्देव्याः सरस्वत्या रतिकेतनं मनोवस्थानमनन्यसाधारणत्वात् स, स्यात् । तथा शत्रुपराभवेन स्वोत्कर्षकरणं जयस्तस्य तस्मात्तस्मिन् वा रमा लक्ष्मीस्तस्याः क्रीडानिधानं केलिनिधिस्तदुपघातप्रतिबन्धित्वात्स, स्यात् । महदिति सर्वविशेषण तया योज्यम् । तथाहि । स श्रीलीलायतनं महद्विपुलं स्यात् । निःश्रेयसावसानमभ्युदयं स, भजेदिति भावः ।। तथा चोक्तम्—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ।।

इति तथा सर्वेषां महोत्सवानां गर्भावतारादिकल्याणानामेकमुत्कृष्टं भवनमाश्रयः स स्यात् यः प्रातः प्रभात उपलक्षणमेतत् तन्मध्याह्नेऽपराह्ने च जिनाङ्घ्रिद्वयमर्हच्चरणयुगलं पश्यत्यवलोकयति । कथंभूतं प्रार्थितार्थस्य प्रकर्षेण दायकम् । अतएव कल्पपादपस्य दलन्ती विनश्यन्ती छाया कान्तिर्यस्मात् । कल्पवृक्षो हि यावन्तमर्थमाश्रितो वाञ्छति तावन्तमेव दत्ते भगवच्चरणयुगलं तु मनोरथातिरिक्तमप्रीति कल्पवृक्षादस्य व्यतिरेकः । व्यतिरेकश्चायं तु काव्यालङ्कारः । अथवा । कल्पपादपदलस्येव छाया कान्तिर्यस्य । आरुण्यातिरेकात् । दलशब्देनात्र पल्लवो ग्राह्यः । तस्य पल्लवार्थेऽपि रूढित्वात् । यदध्यगीष्ट भट्टरुद्रटः—'अधर दलन्ते तरुणा' इति । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ।।१।।

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्रीकृत सान्वयार्थ और भाषा-टीका

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (प्रातः) प्रभातके समय (प्रार्थितार्थप्रदम्) इच्छित वस्तुओंको देने वाले तथा (कल्पपादपदलच्छायम्) कल्पवृक्षके पल्लव के समान कान्ति के धारक (जिनाङ्घ्रिद्वयम्) जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगल को (पश्यति) देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है, (सः) वह (श्रीलीलायतनम्) लक्ष्मी का क्रीड़ागृह, (महीकुलगृहम्) पृथिवी का कुल भवन, (कीर्तिप्रमोदस्पदम्) यश और हर्ष का

स्थान (वाग्देवीरतिकेतनम्) सरस्वती का क्रीड़ा-मन्दिर (महत् जयरमाक्रीडानिधानम्) विजयलक्ष्मी का विशाल क्रीड़ास्थान और (सर्वमहोत्सवैक भवनम्) सब बड़े-बड़े उत्सवों का मुख्य घर (स्यात्) होता है ।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिदिन प्रात:काल के समय जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करता है, वह बहुत ही शक्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वश में रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्ध में उसकी विजय होती है, अधिक क्या कहें, उसे सब उत्सव प्राप्त हो जाते हैं ।।१।।

वसन्ततिलका छन्द

शान्तं वपु श्रवणहारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः ।
संसारमारवमहास्थलरुन्द्रसान्द्र-
च्छायामहीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ।।२।।

देव ! आपका तन प्रशान्त है, वचन कर्ण प्रिय औ आचार ।
अनायास ही करता रहता, सभी प्राणियों का उपकार ।।
अतः आप ही जग-मरुस्थल के सघन वृक्ष हैं छायादार ।
यही हेतु जो विज्ञ आपका आश्रय लेते बारम्बार ।। २ ।।

टीका—शान्तं निर्विकारं सौम्यमित्यर्थः वपुः शरीरं तवास्तीति संबन्धः । श्रवणहारि श्रोत्रप्रियं वचो वाक्यं तवास्ति । चरित्रं चरणं विहरणक्रिया सामायिकादि चारित्रं वा सर्वेषां प्राणिनामुपकारि उपकारकम् । भगवति हि विरहति सुभिक्षारोग्यादिना सर्वे जन्तवः स्वस्थाः भवन्ति । प्राण्युपघातश्च न स्यात्तथा तदुपदिष्टधर्मानुष्ठानान्निराबाधा भवन्ति । यतः एवं । हे देव इन्द्रादिभिर्दीव्यते स्तूयते इति देवः । ततस्तस्माद्वपुःशान्तत्वादिति हेतोः । श्रुतज्ञा आगमविदः । संसार एव मारवं मरुदेशप्रभवं महास्थलं प्राणिनां सन्तसंतापहेतुत्वात्तत्र रुन्द्रो महान् सान्द्रो धनः छाययोपलक्षितो महीरुहो वृक्षः । यस्य सूर्ये चलत्यपि यस्य छाया

निश्चला भवति स छायातरुरिति लोके प्रसिद्धः स तथा भूतो जिनः आमन्त्रयते। भवन्तं त्वां श्रयन्ते अर्थान्तराद्‌व्यावृत्य समन्तात्सेवन्ते ॥२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (तव) आपका (वपुः) शरीर (शान्तम्) शान्त है, (वचः) वचन (श्रवणहारि) कानों को प्रिय है और (चरित्रम्) चारित्र (सर्वोपकारि) सबका भला करने वाला है, (ततः) इसलिये (संसारमारवमहास्थलरुन्द्रसान्द्रच्छायामहीरुह) हे संसार रूप मरुस्थल में विस्तृत सघन छायावृक्ष ! (श्रुतज्ञाः) शास्त्रोंके जानने वाले विद्वान (भवन्तम् उपाश्रयन्ते) आपका आश्रय करते हैं।

भावार्थ—मरुस्थल प्रदेशों में छाया वाले वृक्ष बहुत कम होते हैं, इसलिये मार्ग में रास्तागीरों को बहुत तकलीफ होती है। वे थके हुए रास्तागीर जब किसी छायादार वृक्ष को पाते हैं, तब बड़े खुश होते हैं और उसकी सघन शीतल छाया में बैठकर अपना सब परिश्रम भूल जाते हैं। इसी तरह संसाररूप मरुस्थल में आप जैसे छायादार वृक्षों की बहुत कमी है, इसलिये मोक्ष-नगर को जाने वाले पथिक रास्ता में बहुत तकलीफ उठाते हैं। पर जब उन्हें आप जैसे छायादार वृक्ष की प्राप्ति हो जाती है तब वे बहुत खुश होते हैं और आपके आश्रय में बैठकर अपने सब दुःख भूल जाते हैं ॥२॥

शर्दूलवि-क्रीडति छन्द

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरा-
दद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ॥३॥

नाथ ! आप हैं त्रिजग नयनके, कुमुद विपिन हित चन्द्र अनूप।
सुधा प्रवाहित करती है तव शुभ्र चन्द्रिका कान्ति स्वरूप॥
अतः आपका दर्शन कर मैं, आज गर्भ से हुआ प्रसूत।
आज दृष्टि हो गयी प्रकट औ, आज हुआ है जीवित पूत॥ ३ ॥

टीका—हे स्वामिन् प्रभो ! अद्य इदानीं विनिर्गतो विशेषण निष्क्रान्तोऽस्मि भवाम्यहं जनन्या मातुर्गर्भ एवान्धकूपो मोहान्धकारा-शुचिकृम्यादि व्याप्तत्वात् तस्यांदरं मध्यप्रदेशस्तस्मात् । अद्य सम्प्रति उद्घाटिते उन्मीलिते निरावरणिते वा दृष्टी लोचने यस्य स तथास्मि फलवत् सफलं चरितार्थं जन्म उद्भवो यस्य सोऽस्मि । च समुच्चये । अद्य अधुना स्फुटं निश्चितम् । कुतः एतदित्याह । यद्य स्मात् । त्वा भवन्तम् अद्राक्षं दृष्टवानहम् । अक्षयपदानन्दाय मोक्षसुखार्थं लोकानां जगतां त्रयी त्रितयी । तस्या नेत्राण्येव इन्दीवरकाननं नीलोत्पलवनं तत्र इन्दुं चन्द्रं विकासहेतुत्वात्। अमृतं स्यन्दते स्रवत्यभीक्ष्णमित्यमृत-स्यन्दिनी प्रभा चन्द्रिका देहद्युतिर्ज्योत्स्ना यस्य तम् ।

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! (यत्) जिस कारण से (अहम्) मैंने (लोकत्रयीनेत्रेन्दीवरकाननेन्दुम्) त्रिभुवन के जीवों के नेत्र रूपी कुमुद-वनको विकसित करने के लिये चन्द्रमा रूप तथा (अमृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम्) जिनकी कान्ति रूपी चाँदनी अमृत को प्रवाहित करती है ऐसे (त्वाम्) आपको (अक्षयपदानन्दाय) अविनाशी पदके आनन्द के लिये (अद्राक्षम्) देखा—अर्थात् आपके दर्शन किये, (तत्) (जननीगर्भान्धकूपोदरात्) माता के गर्भ रूप अंधेरे कुएँ से (विनिर्गतः अस्मि) निकला हूँ, (अद्य उद्घाटितदृष्टिः अस्मि) आज प्रकट हुई दृष्टि जिसको ऐसा हुआ हूँ (च) और (अद्य फलवज्जन्मा अस्मि) आज सफल जन्म हुआ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आज आपके दर्शन कर मैं समझता हूँ कि आज ही पैदा हुआ हूँ । क्योंकि मेरा अब तक का समय आपके दर्शन के बिना व्यर्थ ही गया । आज ही मेरी दृष्टि खुली है, आज के पहले मानों मैं देखते हुए भी अनधा था ओर आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है ।।३।।

निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली-
सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः।
क्वेयंश्री क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः
सर्वानदृशश्चारित्रमहिमा लोकेश लोकोत्तरः ।।४।।

इन्द्र-किरीटोंके रत्नोंकी, दीपावलिसे सघन महान।
सिंहासन के मणिमय दीपोंका, यह विभव कहाँ श्रीमान् ?
और आपकी यह निस्पृहता, कहाँ? अतः हे त्रिभुवन ईश !
आप सदृशका चरित तर्कका, विषत नहीं है हे जगदीश ।। ४ ।।

टीका—हे लोकेश जगन्नाथ, वर्त्तते कोऽसौ? चरित्रमहिमा चारित्रमाहात्म्यं । कस्य । त्वादृशो भवादृशस्य । कथंभूतस्य सर्वज्ञान-दृशः । केवलज्ञानलोचनस्य । कथंभूतो वर्तते । लोकोत्तरः । जगदति-शायी । किंविशिष्टः सन् ऊहातिनः वितर्कातिक्रान्तः । कथमूहः । इति किमिति । क्व वर्त्तते कासो? इयमष्टप्रातिहार्यादिलक्षणा श्रीर्लक्ष्मीः कीदृशी निःशेषा सर्वे त्रिदशेन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां शेखराणि मुकुटानि तेषां शिखा अग्राणि तेषु माणिक्यप्रदीपावली मणिदीपश्रेणितस्तया सान्द्रीभूता घनीभूता मृगेन्द्रविष्टरस्य सिंहासनस्य तटीषु पार्श्वदेशेषु स्थिता रत्नप्रदी-पावलिर्यस्यां कृन्मोरिति बसे कप्सांतः प्रदीपावलीति पाठे प्रसज्येत । सेयं श्रीः क्व वर्तते क्व चेदं निःस्पृहत्वं समस्तदेवाधिपत्येऽपि तां श्रियं प्रति सर्वथा निरीहत्वं सुष्ठु दुर्घटमिदम् । यदेवम्भूते बलवत्यपि रागकारणे मनागपि रागो नोत्पद्यते । अत्र विषमो नामालंकार ।।४।।

अन्वयार्थ—(निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली-सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः) समस्त इन्द्रों के मुकुटों के अग्र भाग पर लगे हुए रत्नरूप दीपकों की पंक्ति से सघन है सिंहासन के तट पर लगे हुए मणिमय दीपकों की पंक्ति जिसमें ऐसी (इयम् श्रीः) यह लक्ष्मी (क्व) कहाँ ? (च) और (इदम्) यह (निःस्पृहत्वम्) निःस्पृहता-इच्छा का अभाव (क्व) कहाँ ? (इति) इस प्रकार (लोकेश) हे त्रिभुवन के

स्वामिन् ! (त्वादृशः) आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी की (लोकोत्तरः) सर्वश्रेष्ठ (चरित्र महिमा) चारित्र की महिमा (ऊहातिगः 'अस्ति') तर्क के अगोचर है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप समवशरण रूप लक्ष्मी से सहित होने पर भी उसमें स्पृहा से रहित हैं, इससे मालूम होता है आपका चरित्र 'ऐसा क्यों है' ? यह तर्क का विषय नहीं है ।।४।।

राज्यं शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया
हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जितः ।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत्त्वया
सैषाश्चर्यपरम्परा जिनवर क्वान्यत्र सम्भाव्यते ।।५।।

प्रभो ! आपने सुरपति-सेवित, राज्य दिया तृण जैसा छोड़ ।
अनायास ही त्रिभुवन विजयी, मोह-मल्ल को दिया मरोड़ ।।
लीन किया निज ज्ञान मुकुरके भीतर, लोकालोक वितान ।
यह विस्मय अन्यत्र कहाँ पर, हो सकता है हे धीमान् ।। ५ ।।

टीका—हे जिनवर गणधरदेवादीनां श्रेष्ठ ! क्व अन्यत्र त्वद्व्यतिरिक्ते शिवादौ सम्भाव्यते । न क्वापि भवितव्यतया प्रतीयते । का सौ । सा पूर्वोक्ता एषा अनन्तरोक्ता आश्चर्याणां विस्मयनीयानां गुणानां परम्परा सन्ततिः । कोऽसावित्याह । यत्त्यक्तं परिहृतं किं तद्राज्यं राज्ञः पृथ्वीलाभपालनोचितं कर्म केन । त्वया कीदृशं शासनकारिण आज्ञाविधायिनो नाकपतयः इन्द्र यत्र तच्छासनकारि नाकपति । कया । तृणे इवावज्ञानादरस्तया । अन्यो हि सामान्यमपि वस्तु न त्यक्तुमिच्छति त्यजन् वा शोकादिकं करोति । त्वया तु तादृग् राज्यं तथा त्यक्तमित्याश्चर्यम् । तथा यत्त्वया जितो निगृहीतः कोऽसौ मोहमल्लः । बलवन्मोहनीयकर्म । कथंभूतो हेलया अनायासेन निर्दलितो निर्नाशितस्त्रयाणां लोकानां महिमा माहात्म्यं येन सः । अन्यस्तु जितकतिपय जेतव्यमपि जेतुं न शक्नोतीति विस्मयः । तथा यत् त्वया कृतं प्रकाशितम् । किं तत् लोको जीवादिपदार्थसमुदायः । अलोकः केवलमाकाशं लोकश्चालोकश्च लोकालोकं

अपि समुच्चये। क्व कृता अन्तर्मध्ये कस्य स्वस्यात्मनः सम्बन्धी यो बोधो ज्ञानं स एव मुकुर आदर्शस्तस्य अन्यः पुनः कियदेवं ज्ञेयं जानातीति चित्रम् ॥५॥

अन्वयार्थ–(जिनवर) हे जिनेन्द्र (शासनकारिनाकपति) आज्ञाकारी है इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य (यत्) जो (त्वया) आपके द्वारा (तृणावज्ञाया) तृण जैसी अनादर बुद्धि से (त्यक्तम्) छोड़ दिया गया है, (हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा) अनायास ही खण्डित कर दी है तीन लोक के जीवों की महिमा जिसने ऐसा (मोहमल्लः) मोहरूपी मल्ल (यत्) जो (जितः) जीता गया है तथा (यत्) जो (लोकालोकम् अपि) लोक, अलोक का समाहार-समूह भी (स्वबोधमुकुरस्य अन्तः कृतम्) अपने ज्ञानरूप दर्पण के भीतर किया गया है, सो (ऐसा या आश्चर्यपरम्परा) यह प्रसिद्ध आश्चर्य परिपाटी (अन्यत्र क्व) आपको छोड़कर दूसरी जगह कहाँ (सम्भाव्यते) सम्भव हो सकती है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपने विशाल राज्य को तृण के समान तुच्छ समझकर छोड़ दिया, आपने त्रिलोक विजयी मोहमल्ल को जीत लिया और अपने लोक, अलोक का ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह विशेषता आपको छोड़कर अन्य मत सम्बन्धी देवों में नहीं हो सकती ॥५॥

दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्वयः कृताः।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम् ॥६॥

जिनवर! जिस श्रद्धालु जीव ने, किया आपका पावन दर्श।
उसने ज्ञानी व्रती पात्र के, लिये दान दे लिया सहर्ष॥
कठिन तपस्या संचय कर ली, कीं पूँजाएँ भी अवदात।
एवं निर्मल गुणों सहित हो पाये शीलव्रत भी सात॥६॥

टीका—हे जिन रागादीनां जेतः हे दृष्टिसुभग ! नेत्रवल्लभ ! येन भव्येन त्वं दृष्टः स्वात्मन्युपलब्धः । किंविशिष्टेन श्रद्धापरेण रुचिप्रधानेन कियन्तं कालं क्षणं अल्पकालं तेन किं कृतमित्याह । दत्तं किं तद्दानं कस्मै पात्राय कथंभूताय । ज्ञानमेव धनं यस्य तस्मै पुनः कथंभूताय सद्वृत्तये सदाचाराय कथं दत्तं । असकृदनेकवारं तथा तेन चीर्णानि चरितानि कानि उग्रतपांसि तीव्राण्यनशनादीनि इन्द्रियमनोनियमानुष्ठानानि कथं सुचिरं बहुतरकालं तथा तेन कृताः काः पूजाः किंविशिष्टाः । बहवो विपुला महाकल्पवृक्षादयः प्रचुरा वा तथा तेन समासादितः सम्प्राप्तः । कोऽसौ निचयः संघातः केषां शीलानां व्रतपरिरक्षणभूतानां शुचिचरितानां कथं सह कैः अमलगुणैः अष्टादशशीलसहस्राणि चतुरशीतिश्च गुणलक्षास्तेन संप्राप्ता इत्यर्थः ।।६।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (दृष्टिसुभगः) आँखों को प्यारे लगने वाले (त्वम्) आप (येन श्रद्धापरेण) जिस श्रद्धालु के द्वारा (क्षणम्) एक क्षणभर भी (दृष्टः) देखे गये हो मानो (तेन) उसने (ज्ञानधनाय) ज्ञान ही है धन जिसका ऐसे तथा (सद्वृत्तये) सदाचारी (पात्राय) पात्र के लिये (असकृत्) कई बार (दानम्) दान (दत्तम्) दिया है, (उग्रतपांसि चीर्णानि) कठिन तपस्याओं का संचय किया है, (सुचिरम्) चिरकाल तक (बह्व्यः पूजाः कृताः) अनेक पूजाएँ की हैं और (अमलगुणैः सह) निर्मल गुणों के साथ (शीलानां सर्वः निचयः समासादितः) शीलव्रतों का सब समूह प्राप्त कर लिया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक आपके दर्शन करता है, उसे पात्र दान करने, तप आचरने, पूजा करने तथा शीलव्रत धारण करने का फल लगता है ।।६।।

प्रज्ञापारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुत-
स्कान्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम् ।
नीयन्ते जिन येन कर्णहृदयालङ्कारतां त्वद्गुणाः
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणेः ।।७।।

त्रिभुवन-चूड़ामणे ! आप जग-अहि-विष-हारक मणि निर्दोष ।
जो तव गुणसे कर्ण हृदयको, भूषित कर करता सन्तोष ॥
वही बुद्धि पारंगत प्रभु वह, शास्त्र सिन्धुका अन्तिम पार ।
वह ही है गुण-रत्न विभूषित, वही प्रशंसापात्र उदार ॥ ७ ॥

टीका—हे जिन हे त्रैलोक्यचूडामणे जगत्त्रयशिरोरत्न ! इतो गतः । कोऽसौ । स एव भव्यः किं तत् । प्रज्ञाया ऊहापोहात्मिकाया बुद्धेः पारं परभागं परं प्रकर्षमित्यर्थं तथा गतवान् गतः कोऽसौ स एव किं तत् पारं । कस्य श्रुतस्कन्धाब्धेः श्रुतस्कन्ध एवं अब्धिः समुद्रस्तस्य । पुनरपि किंविशिष्टः । श्लाघ्यः स्तुत्यः कथं । इति किमिति । वर्तते कोऽसौ अयं पुरुषः । किंविशिष्टो गुणरत्नभूषणो गुणा एव रत्नभूषणानि यस्येति गुणरत्नभूषणः । येन नीयन्ते प्राप्यन्ते के ते त्वद्गुणाः । कां कर्णहृदयालंकारतां कर्णौ च हृदयं च तस्य कर्णहृदयं भूषणभावम् । येन तत्त्वद्गुणैः कर्णौ च हृदयं च संस्क्रियन्ते स एव प्रज्ञाद्यतिशयवान् । अयमभिप्रायः । प्रज्ञाद्यतिशयं लब्ध्वापि परमात्मनो गुणा एवं श्रोतव्याः स्मर्त्तव्याश्च येन तु ते श्रूयन्ते स्मर्यन्ते च तेन प्रज्ञाद्यतिशयः प्राप्तः एवं तत्साध्यस्य सिद्धत्वात् । किंविशिष्टास्त्वद्गुणाः संसारा हि विषापहारमणयः संसार एवं अहिः सर्पस्तस्य विषं गरलं तदपहारे मणयः ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यचूडामणेः ! जिन) त्रिभुवन के चूडामणि स्वरूप ! जिनेन्द्र देव ! (संसाराहिविषापहारमणयः) संसाररूपी साँप के विष को हरने के लिये मणि स्वरूप (तद्गुणाः) आपके गुण (येन) जिसके द्वारा (कर्णहृदयालङ्कारताम्) कान तथा मनके आभूषणपनेको (नीयन्ते) प्राप्त कराये जाते हैं (ध्रुवम्) निश्चय से (स एव) वही (प्रज्ञापारम् इतः) बुद्धि के पारको प्राप्त हुआ (भगवान्) भगवान् ऐश्वर्यवान् हैं (स एव श्रुतस्कन्धाब्धेः पारम्) वही शास्त्र-समुद्र का अन्तिम तट है और (स एवं) वही (गुणरत्न-भूषणः) गुणरूपी रत्न ही हैं आभूषण जिसके (इति) इस तरह (श्लाघ्यः) प्रशंसनीय है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपके गुणों को सुनकर हृदय में धारण करता है वही बुद्धिमान्, ऐश्वर्यवान् और गुणरूपी रत्नों से भूषित होता है ।।७।।

मालिनी छन्द

जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि-
र्निचयरुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।
जिनपतिरनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मी-
युवतिनवकटाक्षक्षेपलीलां दधानैः ।।८।।

सुर-समूहके द्वारा चालित, उज्ज्वल-शशि सम ही छविमान ।
'औ' अनुरक्त मुक्ति-श्री युवतीके कटाक्षसे शोभावान ।।
उन्नत चँवरों द्वारा ढोले जाने वाले हे जिनराज ।
हैं जयवन्त आप ही जगमें, मान रहा यह विज्ञ समाज ।। ८ ।।

टीका—जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते कोऽसौ जिनपतिः किं क्रियमाणः वीज्यमानः । परमैश्वर्यलीलां नीयमानः । कैश्चामरैर्वालव्यजनैः । किं विशिष्टैः । दिविजवृन्दान्दोलितैः । दिविजानां देवानां वृन्दः समुदायस्तेनान्दोलितैरितस्ततश्चालितैः । पुनरपि किंविशिष्टैः ? इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः । इन्द्रोश्चन्द्रस्य रोचींषि किरणास्तेषां निचयः संघातस्तद्वद्रुचिः कान्तिर्येषान्तैः । किंकुर्वाणैश्चामरैः । दधानैर्धारयद्भिः । कां अनुरज्यन्ती क्षणे-क्षणे निकटीभवन्ती सा चासौ मुक्तसाम्राज्यस्य परममुक्तेर्लक्ष्मीः श्रीसम्यक्त्वाद्यष्टगुणसम्पत्तिः सैव युवतिस्तरुणी तस्या नता प्रत्यग्रास्ते च ते कटाक्षक्षेपाश्च नयनान्तनिरीक्षणानि तेषां लीला वैदग्धी तां कथंभूतो जिनपतिः । उच्चैः उन्नतपदाधिरूढः ।।८।।

अन्वयार्थ—(दिविजवृन्दान्दोलितैः) देव समूह के द्वारा संचालित, (इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः) चन्द्रमा की किरण समूह के समान उज्ज्वल कान्तिके धारी तथा (अनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीयुवतिकटाक्षक्षेपलीलाम् दधानैः) अनुराग करने वाली मोक्ष नगर की राज्य लक्ष्मी रूप तरुण स्त्री के कटाक्ष-

संचार की शोभा को धारण किये हुए (उच्चैः) उन्नत (चामरैः) चँवरों के द्वारा (वीज्यमानः) ढोले जाने वाले (जिनपतिः) जिनेन्द्र भगवान् (जयति) जयवन्त हैं—सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके दोनों ओर देवगण जो सफेद चँवर ढोर रहे हैं, वे चँवर आपमें आसक्त हुई मुक्ति की राज्य लक्ष्मी रूप स्त्री के सफेद कटाक्षों की तरह शोभायमान होते हैं। उन चँवरों से आप संसार में सर्वश्रेष्ठ मालूम होते हैं।।

स्रग्धरा छन्द

देवः श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-
पुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः।
साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली
पायान्नः पादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिर्जिनेन्द्रः ।।१।।

जो कि छत्र, चामर, अशोक, भा-मण्डल दिव्यध्वनि अभिराम।
पुष्पवृष्टि, सिंहासन, दुन्दुभि, प्रातिहार्य से शोभा-धाम।।
सुर-नर-सभा-कमलिनी के रवि, एवं जगके सभी नरेन्द्र।
जिन्हें नवाते शीश, करें हम, सबकी रक्षा वहीं जिनेन्द्र।। १ ।।

टीका—पायात् संसारदुःखाद् रक्ष्यात्। कोऽसौ देवः। कान्। नः अस्मान् को देवः जिनेन्द्र किंविशिष्टः। पादयोः पीठं न्यासार्थमासनं पादपीठं कृताः। प्रणामकाले पादयोरधस्ताद्वृत्तिसंभवान् सकलानां जगत्पालानामिन्द्रादीनां मौलयो मुकुटानि येन स तथोक्तः। पुनः किंविशिष्टः ? सुराश्चतुर्णिकाया देवा मनुजा मनुष्यास्तेषां सभा परिषत्सै-वाम्भोजिनी कमलिनी तस्यां भानुमाली सूर्यः विकासकत्वात् किंकुर्वाणो भगवान्। भ्राजमानः शोभमानः। कैः प्रातिहार्यैरापन्निवारणोपायैः आपद्-रेऽपि भगवति भक्तिवशाद्देवेन्द्रेण कल्पितैः कैस्तैरित्याह। श्वेतातपत्रत्रयं सितम् छत्रत्रितयं चमरिरुहाणि चामराणि अशोकः पिंडिद्रुमः, भाश्चक्रं देहद्युतिपटलं भाषावाणी पुष्पाणामोघः समूहस्तस्यासारो धारासंपातः पुष्पवृष्टिरिति यावत् सिंहासनंहरिविष्टरं सुरपटहो दुन्दुभिस्तैः किंविशिष्टैः साश्चर्यैरद्भुतैः ।।१।।

अन्वयार्थ—(साश्चर्यैः) आश्चर्ययुक्त (श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषापुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैः) सफेद छत्रत्रय, चँवर, अशोकवृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्प-समूह की वृष्टि, सिंहासन और देवदुन्दुभिरूप (अष्टभिः प्रातिहार्यैः) आठ प्रातिहार्यों के द्वारा (भ्राजमानः) शोभायमान (सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली) देव और मनुष्यों की सभा को विकसित करने के लिये सूर्य तथा (पादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिः) जिन्होंने सब राजाओं के मुकुटों को अपने पावों का पीठ—आसन बनाया है ऐसे (जिनेन्द्रः) जिनेन्द्रदेव (नः पायात्) हम सबकी रक्षा करें ।

भावार्थ—जो आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान हैं, जो मनुष्य और देवों की सभा को हर्षित करते हैं तथा जिनके चरणों में जगत् के सब राजा अपना मस्तक झुकाते हैं वे जिनेन्द्रदेव हमारी रक्षा करें ।।९।।

नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः
सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः ।
हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोद्दामरम्यामरस्त्री-
काम्यः कल्याणपूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते ।।१०।।

देव ! आपकी शुभ कल्याणकविधि में करते नृत्य ललाम ।
सुर-गज के दन्तों पर नर्तित, सुर-वधुओं से शोभाधाम ।।
त्रिभुवन-यात्रा-उत्सव-ध्वनि से, मुदित सुरोंसे और ज्वलन्त ।
सुर-सुन्दरियों द्वारा सुन्दर वह देवागम है जयवन्त ।।१०।।

टीका—हे देव ! विजयते कोऽसौ देवागमः । देवानामिन्द्राद्यमराणामागमनं केषु कल्याणेषु गर्भावतारणादिमहोत्सवेषु ये पूजाविधयस्तेषु कस्य सम्बन्धिषु ते तव किंविशिष्टः नृत्यंश्चासौ स्वर्दन्ती च ऐरावतस्तस्य दन्तास्तेषु अम्बुरुहवनानि कमलषण्डानि तेषु नटन्तो नृत्यन्तो नाकनारीनिकाया देवाङ्गनागणा यत्र स तथोक्तः । पुनः किंविशिष्टः सद्यस्तत्काल एव त्रैलोक्यस्य यात्रोत्सवं गमनोद्धर्षं करोति स

तथाभूतो निनदो नादो येषां तानि तथाभूतानि निनदानि आतोद्यानि ततविततघनसुषिरवाद्यानि तैर्माद्यन्तो हृष्यन्तो निलिम्पा देवा यत्र । पुनरपि किंविशिष्टः । हस्ताम्भोजातेषु करकमलेषु लीलाया वैदग्ध्या विनिहितानि विशेषणे न्यस्तानि । सुमनसां पुष्पाणां दामानि मालास्तै रम्या मनोहरा अमरस्त्रियो देव्यस्ताभिः काम्यः स्पृहणीय ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (ते) आपके (कल्याणपूजा-विधिषु) पंचकल्याणकों के पूजा-कार्य में, (नृत्यत्स्वर्दन्ति-दन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः) नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी के दाँतों पर स्थित कमल-वन में नृत्य कर रहा है देवाङ्गनाओं का समूह जिसमें ऐसा, (सद्यः) शीघ्र ही (त्रैलोक्ययात्रोत्सवकर-निनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः) त्रिभुवन में यात्रा के उत्सव को करने वाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजों से हर्षित हो रहे हैं देव जिसमें ऐसा, तथा (हस्ताम्भोजातलीला-विनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्री-काम्यः) हस्तकमलों के द्वारा क्रीड़ा पूर्वक धारण की गई फूलों की मालाओं से रमणीय देवियों के द्वारा सुन्दर (देवागमः) देवागम (विजयते) जयवन्त है— सर्वोत्कृष्ट है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके कल्याणकों में जो देवों का आगमन होता है, वह संसार में सबसे उत्कृष्ट है—उसकी जय होवे ॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृतस्यन्दिनं
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम् ।
तेनालोकयता मयाऽनतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥११॥

देव ! दृगों में अमृत-वर्षक, अति प्रसाद से शोभावान ।
तेज अलंकृत तव मुख-शशि का, दर्शन कर मैंने भगवान ॥
सर्वोत्तम द्रष्टव्य वस्तु का, दर्शन कर दृग किये पवित्र ।
अतः विश्व में मैं ही हूँ, अब नेत्रवान हे त्रिभुवन मित्र ॥ ११ ॥

टीका—हे देव ! भवामि । कोऽसौ ? अहमेव कीदृशः चक्षुष्मान् नेत्रयुक्तः क्व भुवने जगति हे येन कारणेन मया कृतार्थीकृतम् । अकृतार्थं कृतार्थं कृतं कृतार्थीकृतं चरितार्थीकृतं किं तच्चक्षुः कस्मादनतिचिरात् अचिरादित्यर्थः । किं कुर्वता मया पश्यतां कं त्वद्वक्त्रेन्दु तव मुखचन्द्रं किं विशिष्टं नेत्रामृतस्यंदिनं नेत्रयोः प्रेक्षकजनस्य चक्षुषोः पीयूषस्रा-विणम् । पुनः किंविशिष्टं अतिमात्रप्रसादेन प्रसन्नतया । सुभगैः रम्यैस्ते-जोभिः प्रभाभिरुद्भासितमुत्कृष्टं प्रकाशितं किंविशिष्टं चक्षुः द्रष्टव्यस्य दर्शनीयस्य वस्तुनोऽवधिः सीमा, त्वद्वक्त्रेन्दुरेवतस्य वीक्षणं विशेषेणावलोकनं तस्य व्यतिकरः प्रघट्टकस्तत्र व्याजृम्भमाण उल्लसन उत्सवो यस्य तत् तथोक्तं ॥११॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (येन) जिस कारण से (नेत्रा-मृतस्यन्दिनम्) आँखों में अमृत झराने वाला तथा (अतिप्रसादसुभगैः) अत्यन्त प्रसन्नता से सुन्दर (तेजोभिः) तेज के द्वारा (उद्भासितम्) शोभायमान (त्वद्वक्त्रेन्दुम्) आपके मुखचन्द्र को (आलोकयता) देखते हुए (मया) मैंने (द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्) दर्शनीय वस्तुओं की सीमा के देखने रूप व्यापार से बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी (चक्षुः) आँखों को (अनतिचिरात्) शीघ्र ही (कृतार्थीकृतम्) कृतार्थ किया है (तेन) उस कारण से (भुवने) संसार में (अहम् एव) मैं ही (चक्षुमान् अस्मि') नेत्रवान हूँ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं, संसार में उन्हीं के नेत्र सफल हैं—वे ही नेत्रवान् कहलाते हैं ॥११॥

वसन्ततिलका

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम् ।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज ! मल्लः ॥१२॥

जिनवर ! कोई मुग्ध कामिनी के, कटाक्ष के द्वारा विद्ध ।
हरि, हर ब्रह्मा को ही कहते, काम विजेता मल्ल प्रसिद्ध ।।
किन्तु आपने विफल किये, सुर वधुओं के दृग वाण प्रहार ।
अत: आपको ही है, मन्मथ-जयी कहने का अधिकार ।। १२ ।।

टीका—अवैति जानाति । कोऽसौ ? कश्चित् कोऽपि मुग्धो मन्दमतिक: सकान्तमपि कान्तायुक्तमपि मुकुन्दं विष्णुम् । अरविंदजं ब्रह्माणम् इन्दुमौलिं शम्भुं त्रयमपि किंविशिष्टमवैति ? कन्तो: कामस्य मल्लं प्रत्यनीकं न चैवं कुत एतदित्याहयतो हि हे जिनराजमल्ल ! तस्य कन्तोस्त्वमेव विजयी विजेता न मुकुन्दादि: मुकुं मोक्षं द्युति खण्डयतीति मुकुन्दस्तं मुकुं किं विशिष्टस्त्वं मोघीकृता विफलीकृताखिदशयोषितां देवीनामपाङ्गपाता नयनान्तक्षेपा येन स तथोक्त: ।।१२।।

अन्वयार्थ—(जिनराज) हे जिनेन्द्र ! (कश्चित् मुग्ध:) कोई मूर्ख (कन्तो:) कामदेव के विषय में (मुकुन्दम्) श्रीकृष्ण (अरविन्दजम्) ब्रह्मा और (इन्दुमौलिम्) महादेव को (सकान्तम् अपि) स्त्रियों से सहित होने पर भी (मल्लम्) मल्ल (अवैति) मानता है । किन्तु (मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात:) व्यर्थ कर दिया है देवांगनाओं का कटाक्षपात जिनने ऐसे (त्वम् एव) आप ही (तस्य) उस काम को (विजयी) जीतने वाले (मल्ल:) शूरवीर हैं ।।१२।।

भावार्थ—हे भगवन् ! कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि श्रीविष्णु ने काम को जीता था, कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने जीता था और कोई कहते हैं कि महादेव ने जीता था, पर उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि ये तीनों ही देवता देव-अवस्था में भी स्त्रियों से सहित थे । जो काम को जीत लेता है—काम विकार से रहित होता है उसे स्त्री रखने की क्या आवश्यकता ? परन्तु आपके ऊपर मनुष्य-स्त्रियों की क्या बात, देवांगनाएँ भी अपना असर नहीं डाल सकीं, इसलिये कामदेव के सच्चे विजेता आप ही हैं ।।१२।।

मालिनी छन्द

किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्
कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात् ।
मम फलितमन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं
नयनपथमवाप्ताद् देव ! पुण्यद्रुमेण ।।१३।।

तव दर्शन की इच्छा से ही, मेरे पुण्य-विटप में आप्त ।
पल्लव निकले, निकट-गमन से, हुई सघन सुमनावलि व्याप्त ।।
और आपके मुख-शशि दर्शन से, इस समय लगे फल ईश ।
अतः आपका पावन दर्शन, पुण्य हेतु है हे योगीश ।। १३ ।।

टीका—हे देव ! मम सम्बन्धिना पुण्यद्रुमेण सुकृतवृक्षेण किसलयितं सपल्लवेन जातं कथं? अनल्पं बहु। कस्मात्? त्वद्विलोकाभिलाषात् तव दर्शनवाञ्छातः । तथा कुसुमितं सपुष्पेण जातम् अतिसान्द्रं अतिघनं कस्मात् त्वत्समीपप्रणायात् तव निकटदेशगमनात् तथा फलितं सफलेन जातम् । अमन्दं प्रचुरं यथाभवति । कस्मात् त्वन्मुखेन्दोस्त्वन्मुखचन्द्रात् इदानीं सम्प्रति नयनपथं नेत्रमार्गमवाप्तात् प्राप्तात् दृष्टादित्यर्थः ।।१३।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (मम) मेरा (पुण्यद्रुमेण) पुण्यरूपी वृक्ष, (त्वद्विलोकाभिलाषात्) आपके दर्शन करने की इच्छा से (अनल्पम्) अत्यधिक (किसलयितम्) पल्लवों से व्याप्त हुआ था, (त्वत्समीपप्रयाणात्) आपके पास जाने से (अतिसान्द्रम्) अतिसघन (कुसुमितम्) फूलों से व्याप्त हुआ और (इदानीम्) इस समय (त्वन्मुखेन्दोः) आपके मुख-चन्द्रमा से (अमन्दम्) अत्यन्त (फलितम्) फलों से व्याप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके दर्शन करने की इच्छा से पुण्यरूपी वृक्ष लहलहा उठता है । आपके पास जाने से उसमें फूल लग जाते हैं और आपका साक्षात् दर्शन पा लेने पर उसमें फल लग जाते हैं । आपका दर्शन अत्यन्त पुण्य का कारण है ।।१३।।

त्रिभुवनवनपुष्यात्पुष्पकोदण्डदर्प-
प्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः ।
स जयति जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः
शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः ॥१४॥

त्रिभुवन वन में व्याप्त मदन के, मदके दावानल को ताप।
निज उपदेशामृत की वर्षा से, शीतल कर देते आप॥
तथा सुराधिपरूप शिखि के, नर्तन में भी निःस्सन्देह।
सबसे श्रेष्ठ आप हो, आग्रहकारी बन्धु स्वरूपो मेह॥१४॥

टीका—जयति कोऽसौ ? स प्रसिद्धः जिनानां गणधरदेवादीनां राजानोऽधिपतयो जिनेन्द्रास्तेषां व्रातः संघातः सोऽयं जीमूतानां मेघानां संघः। जीमूतसंघ इव जीमूतसंघः उपमानोपमा। सोऽयं किंविशिष्टः त्रिभुवनमेव वनं तत्र पुष्पन्वर्द्धमानः पुष्पकोदण्डस्य कामस्य दर्पप्रसरो मद्रोद्रेकः स एव दवो दवाग्निस्तत्र नवाम्भोमुक्तिः नूतनजलवृष्टिः। सूक्तीनां दृष्टेष्टाविरुद्धवाचां प्रसूतिः प्रादुर्भावो यस्मात् पुनः किंविशिष्टः ? शतमख इन्द्रः स एवं शिखी मयूरस्तस्य नृत्यारम्भो नटनोपक्रमस्तस्य निर्बन्ध आग्रहस्तत्र बन्धुः सहायः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनवनपुष्यात्पुष्पकोदण्डदर्पप्रसरदवन-वाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः) तीन लोकरूपी वन में बढ़ते हुए कामदेव सम्बन्धी अहंकार के प्रसाररूपी दावानल को बुझाने के लिये नूतन जलवृष्टि रूप सुन्दर उपदेश की है उत्पत्ति जिससे ऐसे तथा (शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः) इन्द्ररूपी मयूर के नृत्य प्रारम्भ करने में आग्रहकारी बन्धुस्वरूप (सः) वह (जिन-राजव्रातजीमूतसङ्घः) जिनेन्द्र समूहरूप मेघों का समुदाय (जयति) जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—जिनका उपदेश काम अग्नि को नष्ट करने के लिए जल-धारा के समान है और जिनके सामने स्वर्ग का इन्द्र मनोहर नृत्य करता है वे जिनेन्द्रदेव संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं ॥१४॥

भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला-
लीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य ।
उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलस्त्रिः परीत्य
श्रीपादच्छाययापच्छिदभवदवथुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम् ।।१५।।

चक्री इन्द्र प्रमुख नर सुर के, नयन भ्रमर के लीलाधाम ।
चैत्यवृक्ष औ अखिल जगत के, कुमुद वर्ग को शशि अभिराम ।।
जिनमन्दिर की त्रय-प्रदक्षिणा दे कर युगल जोड़ सानन्द ।
तव श्री-पद से विगत-ताप हो, पाया मैंने शिव आनन्द ।। १५ ।।

टीका—अस्मि भवामि कोऽसौ अहं किंविशिष्टः । मुक्तिसंश्रित इव किं विशिष्टः सन् अपच्छिदः समन्ताच्छिन्नोऽभवदवथुः संसारपरितापो यस्य मम सोऽहं तथोक्तः । कया श्रीपादच्छायया श्रीपादयोः कान्तिमच्चरणयोः छाया आश्रयः तया तथा च लोको वदति । युष्मदीयच्छत्र-छायायामहं तिष्ठामि । त्वामाश्रितोऽस्मीत्यर्थः । कस्यैषा ? जिनस्य । किं कृत्वा ? परीत्य । प्रदक्षिणीकृत्य । कं चैत्यालयं कस्य जिनस्य । कथं त्रिः त्रीन् वारान् किंविशिष्टः सन् । उत्तंसीभूत सेवांजलिपुटनलिनी-कुड्मलः उत्तंसोभूतो ललाटतटनिवेशितत्वातच्छेखरीभूतः सेवांजलिपुट एव नलिनीकुड्मलः पद्मिनीमुकुलो यस्य स तथोक्तः । किंविशिष्टस्य ? जिनस्य भूपालेत्यादि । भूपाला राजानः स्वर्गपाला इन्द्रास्ते यथाक्रमं प्रमुखाः पुरस्सरा यासां ताश्च तान् सुरश्रेणयश्च तासां नेत्राणि तान्थे-वालयो भ्रमरास्तेषां माला लीलाचैत्यं मालानां माल्यानां गुंफितपुष्पाणां लीलाचैत्यं लीलया रचितमायतनं पुष्पगृहमिति यावत् । तस्य पुनः किंविशिष्टस्य ? अखिलानां सर्वेषां जगतां लोकानां कौमुदीन्दोः कार्त्तिकीचन्द्रस्य ।।१५।

अन्वयार्थ—(भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालि-मालालीलाचैत्यस्य) चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें, ऐसे मनुष्य और देव समूह के नेत्ररूपी भ्रमर-पंक्ति की क्रीड़ा के लिये चैत्यवृक्ष तथा (अखिलजगत्कौमुदीन्दोः) सम्पूर्ण संसार रूप

कुमुद समूह के लिए चन्द्रमा स्वरूप (जिनस्य) जिनेन्द्रदेव के (चैत्यालयं त्रि: परीत्य:) मन्दिर की तीन प्रदक्षिणा देकर (उत्तंसीभूतसेवांजलिपुटनलिनीकुड्मल:) आभरण रूप किया है सेवा से वह अंजलिपुटरूपकमलिनी के मुकुल (बौंडीकली) जिसने ऐसा तथा (श्रीपादच्छायया) आपके श्रीचरण की छाया के द्वारा (अपच्छिदभवदवथु:) दूर हो गया है संसार का सन्ताप जिसका ऐसा मैं (मुक्तिम् इव संश्रित: अस्मि) मानो मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ ।।१५।।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके मन्दिर की तीन परिक्रमा देकर जब आपके चरणों के समीप हाथ जोड़कर बैठता हूँ, तब मुझे जो आनन्द होता है उसमें मैं समझने लगता हूँ कि मैं अब मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ ।।१५।।

वसन्ततिलका छन्द

देव त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणेऽस्मि-
न्नर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्र: ।
श्रीकीर्तिकान्तिधृतिसङ्गमकारणानि
भव्यो न कानि लभते शुभमङ्गलानि ।।१६।।

प्रभो ! पूज्य औ' स्वत: रुचिर तव नख दर्पण में बारम्बार ।
स्वमुख देखकर भव्य जीव श्री-कीर्ति-कान्तिधृति के आगार ।।
किन शुभ मङ्गलमयी प्रसंगों को न प्राप्त होता स्वयमेव ।
कहने का सारांश कि वह सब शुभ मंगल पाता है देव ।। १६ ।।

टीका—हे देव ! भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव: कानि शुभ-मङ्गलानि न लभते सर्वाण्यपि लभते एव । मङ्गं पुण्यं सुखं वा लान्तीतिमं पापं वा गालयन्तीति मङ्गलानि सम्यग्दर्शज्ञानचारित्राणीत्यर्थ: । शुभानि प्रशस्तानि त्रिजगत्युपकारकत्वात् । यदि वा शुभमङ्गलानि गर्भावतारणादि-कल्याणानि किंकिंविशिष्टानि श्रीलक्ष्मी: कीर्तिर्यश: कान्तिर्लावण्यं धृति: संतोषस्तासां संगम: संप्राप्तिस्तस्य कारणानि किंविशिष्ट: सन् भव्यश्चिरं

दीर्घकालं दृष्टं प्रेक्षितं वक्त्रं मुखं येन स चिरदृष्टवक्त्रः । क्व तदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे भवच्चरणनखतलादर्शे । अस्मिन् प्रत्यक्षे किंविशिष्टे अर्घ्ये पूजाविशेषार्हे पुनः किंविशिष्टे निसर्गरुचिरे स्वभावभासुरे ॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (अर्घ्ये) प्रशंसनीय और (निसर्गरुचिरे) स्वभाव से सुन्दर (अस्मिन् त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे) आपके इस नखमण्डलरूपी दर्पण में (चिरदृष्टवक्त्रः) बहुत समय तक देखा है मुख जिसने ऐसा (भव्यः) भव्यजीव (श्रीकीर्तिकांतिधृतिसङ्गमकारणानि) लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरज की प्राप्ति के कारणस्वरूप (कानि शुभमङ्गलानि) किन शुभ मङ्गलों को (न लभते) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् सभी को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! जो भव्य आपके नखमण्डलरूपी दर्पण में अपना मुँह देखता है अर्थात् आपके चरणों में नमस्कार करता है, वह हर एक तरह के मङ्गलों को प्राप्त होता है । लोक में दर्पण में मुँह देखना मङ्गल का कारण माना जाता है ॥१६॥

जयति सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः
कुलधरणिधरोऽयं जैनचैत्याभिरामः ।
प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवाल-
प्रसरशिखरशुम्भत्केतनः श्रीनिकेतः ॥१७॥

सुर-नरकी श्री-रूप सुधाके अमृत-झरनोंसे अभिराम ।
अतिशय फलयुत धर्मवृक्षके अग्रभाग पर लगी ललाम ॥
किसलय दलके शिखर सदृश ही शोभित ध्वजसे श्रीगृह रूप ।
यह जिनेन्द्रका मन्दिर जगमें सबसे उत्तम और अनूप ॥ १७ ॥

टीका—जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । कोऽसौ ? अयं श्रीनिकेतः श्रीमदालयः किंविशिष्टः ? जिनानामिमानि जैनानि तानि च तानि चैत्यानि प्रतिमाश्च तैरभिरामो रम्यः । पुनः किंविशिष्टः ? कुलधरणिधरः कुलपर्वतोऽर्थात् हिमवान् । कस्याः ? सुराश्च नराश्च सुरनरास्तेषामिन्द्रा-

स्तेषां श्रीः सैव सुधानिर्झरिणी अमृतनदी गङ्गा तस्याः । तत्प्रभवहेतुत्वात् पुनः किंविशिष्टः प्रविपुलेत्यादि प्रविपुलानि अतिमहान्ति फलानि यस्य स प्रविपुलफलः स चासौ धर्मानोकहः पुण्यवृक्षश्च तस्याग्रं शिखरं तत्र प्रवालसरः किसलयविस्तारः प्रेक्षमाणभव्यजनानामत्यन्तचित्तप्रसादहेतु-तया सद्यः सुखजनकत्वात् स इव शिखरे अग्रे शुम्भन्ति शोभमानानि केतनानि ध्वजा यस्य स तथोक्तः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः) देवेन्द्र और राजाओं की लक्ष्मी रूप अमृत के झरनों की उत्पत्ति के लिये (कुल-धरणिधरः) कुलाचल, तथा (प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्र-प्रवालप्रसरशिखरशुम्भत्केतनः) अत्यधिक फल वाले धर्मरूप वृक्षके अग्रभाग पर स्थित किसलयसमूह की शिखर ही है शोभायमान पताका जिस पर ऐसा तथा (श्रीनिकेतः) लक्ष्मी के गृहस्वरूप (अयम्) यह (जैनचैत्याभिरामः) जिनेन्द्रदेव का चैत्यालय (जयति) जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका वह मन्दिर संसार में सबसे उत्कृष्ट है, जिसमें भक्तिपूर्वक जाने से देवेन्द्र तथा राजा-महाराजाओं को सम्पत्ति प्राप्त होती है, जिस पर मनोहर पताका फहरा रही है और जो लक्ष्मी का घर है ॥१७॥

विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्ति-
स्फुरितनखमयूखद्योतिताशान्तरालः ।
दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जो
जयति विजितकर्मारातिजालो जिनेन्द्रः ॥१८॥

जिनके नख-शशिमें प्रतिबिम्बित होते विनत सुरीके केश ।
जिनके चरण-कमल की पूजा करते हैं अमरेश नरेश ॥
तथा जिन्होंने कर्म रूप निज अरि की सेना ली है जीत ।
वे जिनेन्द्र की तीनों लोकों में सर्वोत्तम और पुनीत ॥ १८ ॥

टीका—जयति कोऽसौ ? जिनेन्द्रः किंविशिष्टः ? विजितं निरस्तं

कर्मारातीनां मोहादिघातिकर्मशत्रूणां जालं संघातो येन स तथोक्तः। पुनः किंविशिष्टः ? विनमदित्यादि विशेषेण नमन्त्यः प्रह्वीभवन्त्योमरकान्ता देवांगनास्तासां कुन्तलाः केशास्तैराक्रान्ता आश्रितास्ते च कान्तिस्फुरिता द्युतिद्योतितास्ते च ते नखमयूखा नखकिरणाश्च तैर्द्योतितानि आशान्तराणि दिगन्तराणि याभ्या ते तथोक्ते तथाभूते दिविजमनुजराजव्रातपूज्ये सुरेन्द्रनरेन्द्रवृन्दाभ्यर्च्ये क्रमाब्जे चरणकमले यस्य ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विनमदमरकांताकुन्तलाक्रान्तकांतिस्फुरित-नखमयूखद्योतिताशान्तरालः) नमस्कार करतीं हुई देवांगनाओंके केशोंसे प्रतिबिम्बित कांतिसे शोभायमान नखचन्द्रकी किरणोंसे प्रकाशित कर दिया है दिशाओं का मध्यभाग जिनने ऐसे, तथा (दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जः) देव और मनुष्यों के राजसमूह से पूजने योग्य हैं चरणकमल जिनके ऐसे, और (विजितकर्मारातिजालः) जीत लिया है कर्मरूपी शत्रुओं का समूह जिनने ऐसे (जिनेन्द्रः) जिनेन्द्रदेव (जयति) जयवन्त हैं—सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान हैं।

भावार्थ—जिनके चरणों के नखों की कांति से दशों दिशाएँ प्रकाशमान हैं, जिनके चरणों की देवेन्द्र और नरेन्द्र पूजा करते हैं तथा जिन्होंने कर्मों का क्षय कर दिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव ही सबसे उत्कृष्ट हैं ॥१८॥

वसन्ततिलका छन्द

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥१९॥

स्वामिन् ! सोकर उठे पुरुष को यदि शुभ मङ्गलके प्राप्त्यर्थ।
मङ्गल वस्तु देखनी हो तो अन्य वस्तुएँ सब हैं व्यर्थ॥
त्रिभुवन के हर मंगलके गृहरूप आपका वदन-मयङ्क।
मात्र देख ले तो हर मंगल प्राप्त उसे होगा निःशङ्क॥ १९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (सुप्तोत्थितेन) सोकर उठे हुए (सुमुखेन) सुन्दर मुख वाले पुरुष के द्वारा (सुमङ्गलाय) कल्याण की प्राप्ति के लिये (यदि मङ्गलम एव वस्तु द्रष्टव्यम् अस्ति) यदि मङ्गलरूप ही वस्तु देखी जानी चाहिए (तत्) तो (अन्येन किम्) और से क्या ? (त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनम्) तीनों लोकों के मङ्गलों के घर स्वरूप (तव वक्त्रम् एव) आपका मुख ही (ईक्षणीयम्) देखना चाहिये ।

भावार्थ—यदि सोकर उठने के बाद नियम से किसी मङ्गल वस्तु को देखना चाहिए ऐसा नियम है तो जिनेन्द्र भगवान् के मुख को ही देखिये क्योंकि वह सब मंगलों का घर है ।।१९।।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबन्धक्रम-
क्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिकाषट्पदः ।
त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसस्त्वमुत्तंसकैः
कैर्भूपाल न धार्यसे गुणमणिस्रङ्मालिभिर्मौलिभिः ।।२०।।[1]

नाथ ! आप धर्मोदय-वन शुक, आप काव्य-क्रम-क्रीड़ा-रूप ।
नन्दन वन के पिक, सुजनों की, चर्चा-सर के हंस अनूप ।।
अतः आपको कौन गुणी जन गुण-मणि मालासे समवेत ।
अपने मंजुल मुकुट झुकाकर, नमन न करता भक्ति समेत ।। २० ।।

अन्वयार्थ—(भूपाल) हे जगत्पालक ! (त्वम्) आप (धर्मोदयतापसाश्रमशुकः) धर्म के अभ्युदयरूपी तपोवन के तोता हैं (त्वम्) आप (काव्यबन्धक्रमक्रीडानन्दनकोकिलः) काव्य-रचना की क्रमक्रीड़ा रूप नन्दनवन के कोकिल हैं । (त्वम्) आप (पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसः) श्रेष्ठ पुरुषों की कथारूपी कमल सरोवर के हंस हैं और (त्वम्) आप (उत्तंसकैः) अपने आपको भूषित करने—सजाने वाले (कैः) किन पुरुषों के

---

१. १९ और २०वें श्लोक की संस्कृत टीका हस्तलिखित प्रति में छूटी है । मूलप्रति में यह पद्य नहीं है ।

द्वारा (गुणमणिस्रङ्मालिभिः) गुण रूप मणियों की माला के समूह से उपलक्षित (मौलिभिः) मुकुटों के द्वारा (न धार्यसे) धारण नहीं किये जाते ? अर्थात् सभी के द्वारा किये जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार तोता तपोवन की शोभा बढ़ाता है उसी प्रकार आप भी धर्म के उदय की शोभा बढ़ाते हैं । जिस प्रकार कोयल अपनी मीठी आवाज से नन्दनवन की शोभा बढ़ा देती है उसी प्रकार आप भी अपने चरित्र से काव्य-रचना की शोभा बढ़ा देते हैं । अर्थात् जिस काव्य-रचना में आपका चरित्र लिखा जाता है, वह बहुत सुन्दर हो जाती है । जिस प्रकार भौंरा मालती के फूलों का रसास्वादन करता है, उसी प्रकार आप भी अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी का रसास्वादन करते हैं । जिस प्रकार हंस कमलों के वन की शोभा बढ़ाता है उसी तरह आप भी श्रेष्ठ पुरुषों की कथाओं की शोभा बढ़ाते हैं । और जिस प्रकार अपने आपको अलंकृत करने वाले पुरुष मालाओं से शोभायमान मुकुटों को अपने सिर पर धारण करते हैं, उसी प्रकार अपने आपको उत्तम बनाने वाले मनुष्य आपको अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात्, शिर झुकाकार प्रणाम करते हैं ।।२०।।

मालिनी

शिवसुखमजरश्रीसङ्गमं चाभिलष्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित् ।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त-
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः ।।२१।।

कुछ जन चाह मुक्ति सुख एवं देवों की लक्ष्मी का संग ।
भाँति-भाँति के दुःख-समूह से नियमित करते अपने अंग ।।
पर सदैव हम यहाँ आपके उपदेशों की महिमा सोच ।
अनायास ही मोक्ष स्वर्ग को पा लेते हैं निस्सङ्कोच ।। २१ ।।

टीका—अभिनियमयन्ति समंताद् बध्नन्ति । केचित् पुम्पाः । कं स्वमात्मानं केन क्लेशपाशेन । पञ्चाग्निसाधनादिबंधनविशेषेण । किं

कृत्वा अभिलष्य वांछित्वा किं तत् शिवसुखं मोक्षसौख्यं न केवलं तत् अजरश्रीसंगमं च देवलक्ष्मीसंयोगमपि तर्हि यूयं किं कुरुथेत्याह । वयं तु पुनः इह लोके निर्विशामः अनुभवामः । किं ततयोः शिवसुखमजर-श्रीसङ्गमयोरुभयमपि द्वयमपि । कथं शश्वत् अनवरतं सततं कया लीलया अनायासेन किं कुर्वन्तः भावयन्तः पुनः पुनश्चेतसि निवेश-यन्तः । किं तत् । तद्वचो वाक्यं कस्य ते तव जिनस्य किंविशिष्टस्य ? भूपतेर्भुवामूर्द्ध्वाधोमध्यलोकानां स्वामिनः ।।२१।।

अन्वयार्थ—(केचित्) कितने ही मनुष्य (शिवसुखम्) मोक्षसुख (च) और (अजरश्रीसङ्गमम्) देवों की लक्ष्मी के संगम को (अभिलष्य) चाहकर (स्वयम् अपि) अपने आपको (क्लेशपाशेन) दुःखों के समूह से (नियमयन्ति) नियमित करते हैं—अर्थात् तरह-तरह की तपस्याओं और व्रत आदि के कठिन नियमों से अपने आपको दुःखी करते हैं (तु) किन्तु (वयम्) हम लोक (शश्वत्) हमेशा (इह) इस संसार में (ते भूपतेः) आप जगत्पालक के (वचः भावयन्तः) वचनों की भावना करते हुए (लीलया) अनायास ही (तदुभयम् अपि) उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्ग को (निर्विशामः) प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपके सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं—वे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये तरह-तरह के नियम करते हैं—कठिन तपस्याओं के क्लेश उठाते हैं, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, पर हम लोग आपके उपदेश का रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं । आपके वचनों की महिमा अपार है ।।२१।।

शार्दूलविक्रीडित

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवाङ्गना मङ्गला-
न्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः ।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे
तत् किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ।।२२।।

इन्द्रों ने अभिषेक किया तब किये देवियों ने शुभ गान।
गन्धर्वोंने गाया लयसे, शरच्चन्द्र सम यश अम्लान।।
शेष सुरों ने स्वीय नियोगों के अनुसार किये उपचार।
अब हम सब क्या करें? सोच मन चंचल होता बारंबार।। २२।।

टीका—हे देव ! विदधुः कृतवन्तः के देवेन्द्राः सौधर्मादयः। कानि मज्जनानि जन्मकल्याणेऽभिषेकानि कस्य सम्बन्धीनि तव तथा आपेठुः समन्तात् पठन्तिस्म। काः देवाङ्गनाः शचीपुरस्सराः सुरस्त्रियः कानि मङ्गलानि गानविशेषान् तथा जगुः गायन्तिस्म। के गन्धर्वदेवाः व्यन्तरविशेषाः किं तत् शरदिन्दुनिर्मलयशः शरच्चन्द्रशुभ्रकीर्ति न केवलमेवमेते चक्रुः। शेषाश्चापि अन्येऽपि सुराः चक्रिरे: कृतवन्तः, कां सेवां उपास्तिं कथं यथानियोग अधिकारानतिक्रमेण किंविशिष्टाः अखिलाः सर्वे यतश्च देवैऽप्यधिभिरारब्धः सेवितो भवान्। तस्मात् कारणात् दोलायते दोलेवाचरति इतश्चेतश्चलति न क्वचिदवतिष्ठत इत्यर्थः। किं तत् मनः केषां नः अस्माकं भाक्तिकानां कथम् इति किमति। मज्जनमङ्गलपठनयशोगायनादीनां मध्ये किं वयं विदध्मः कुर्मः। तुरवधारणे भिन्नक्रमः दोलायत एवेत्यर्थः।।२२।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (देवेन्द्राः) इन्द्रोंने (तव) आपका (मज्जनानि विदधुः) अभिषेक किया, (देवाङ्गनाः मङ्गलानि आपेठुः) देवांगनाओं ने मंगलपाठ पढ़े (गन्धर्वदेवाः) गन्धर्व देवोंने (शरदिन्दुनिर्मलयशः जगुः) शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल यश गाया, (च) और (शेषाः अखिलाः सुराः) बाकी बचे हुए समस्त देवों ने (यथानियोगम्) अपने कर्तव्य के अनुसार (सेवाम् चक्रिरे) सेवा की (तत् वयं तु किं विदध्मः) अब हम लोग क्या करें? (इति) इस प्रकार (नः) हमारा (चित्तम्) मन (दोलायते) चंचल हो रहा है।

भावार्थ—हे प्रभो! करने योग्य जो सेवाएँ थीं उन्हें सब देव-देवियाँ कर चुकीं, अब हम लोग आपकी कौन-सी सेवा करें?

इस तरह हमारा चित्त निरन्तर विचारों के हिंडोले में झूलता रहता है ।।२२।।

देव त्वज्जननाभिषेकसमये रोमाञ्चसत्कञ्चुकै-
र्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्त्तनविधौ लब्धप्रभावैः स्फुटम् ।
किंचान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम-
प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतमहो तत्केन संवर्ण्यते ।।२३।।

भगवन् ! तव जन्माभिषेक में नर्तक इन्द्रोंने अवदात ।
वह रोमांच-कंचुकी धारण कर जो नृत्य किया विख्यात ।।
और देवियों की वीणा से जो झंकार हुई जगदीश ।
उन सबका उल्लेख न कोई भी कर सकता है हे ईश ।। २३ ।।

टीका—हे देव ! तत्केन न केनापि संवर्ण्यते सम्यक् श्रूयते । तत्किं यदनर्ति नर्त्तनं कृतम् । कैर्देवेन्द्रैः कदा त्वज्जननाभिषेकसमये किं विशिष्टैः रोमांच एव सन् प्रशस्तः कंचुकः सन्नाहो येषां ते तैस्तथोक्तैः पुलकितगात्रैरित्यर्थः । पुनः किं विशिष्टैः लब्धप्रभावैः प्राप्तमाहात्म्यैः नर्त्तनविधौ नाट्यविधाने कथं स्फुटं व्यक्तं, न केवलं देवेन्द्रैर्यदनर्ति किंच यदन्यदपूर्वमभूत । किं तदित्याह—सुराणां सुन्दर्यो देवाङ्गनास्तेषां कुचतटप्रान्ताः प्रशस्त-स्तनाग्राणि तेषु अवनद्धा बद्धाः संयोजिता उत्तमा उत्कृष्टाः प्रेङ्खन्त्यः स्फुरस्तयो वल्लक्यो वीणास्तासां नादझङ्कृतं शब्दझङ्कारः अहो आश्चर्य वल्लकिनादेत्यत्रयाकारो स्त्री कृतौ ह्रसौ क्वचिदित्यनेन ह्रस्वः ।।२३।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (त्वज्जननाभिषेकसमये) आपके जन्माभिषेक के समय (नर्तनविधौ) नृत्य-कार्य में (लब्धप्रभावैः) प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने ऐसे (देवेन्द्रैः) इन्द्रों ने (रोमाञ्चसत्कंचुकैः) रोमांचरूप कंचुक वस्त्र को धारण करते हुए (यत् स्फुटम् अनर्ति) जो स्पष्ट नृत्य किया गया था (किं च अन्यत्) और जो (सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम-प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतम्) देवांगनाओं के स्तन तट के समीप

बँधी हुई उत्तम शब्द करती हुई वीणा के शब्द की झङ्कार हुई थी (अहो तत् केन वर्ण्यते) आश्चर्य है कि उस सबका वर्णन किससे हो सकता है ? अर्थात् किसी से नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जन्माभिषेक के समय इन्द्र ने जो नृत्य किया था और देवांगनाओं ने वीणा बजाई थी उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता ।।२३।।

देव त्वत्प्रतिबिम्बमम्बुजदलस्मेरेक्षणं पश्यतां
यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान् वर्तते ।
साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा
देवानामनिमेषलोचनतया वृत्तः सः किंवर्ण्यते ।।२४।।

अम्बुज-दल सम नयनमयी तव प्रतिमाका दर्शन कर देव ।
जब कि हमारे नयनों को यह इतना सुख मिलता स्वयमेव ।।
तब कल्याणक-समय एक टक नयनों से तव रूप अपार ।
देख सुरोंको जो सुख मिलता, वह अवर्ण्य है सभी प्रकार ।। २४ ।।

टीका—हे देव ! यत्र लोके अहो आश्चर्य वर्तते । असि कोऽसौ महोत्सवरसः परमान्दोद्रेकः कस्य दृष्टेः लोचनस्य किंविशिष्टः इयान् इदं परिणामः केषां दृष्टेः अस्माकं द्रष्टॄणां किं कुर्वतां पश्यताम् अवलोकयतां किं तत् । त्वत्प्रतिबिम्बं तव प्रतिमां कथं कथा भवति । अम्बुजदले इव कमलपत्रे यथा स्मेरविकस्वरे ईक्षणे चक्षुषी यत्र दर्शनकर्मणि तत्तथोक्तम् । तत्र लोके यो दृष्टेर्महोत्सवरसो वृत्तः सम्पन्नः केषां देवानां किन्तु तव तां ईक्षितवतां दृष्टवतां कं भवतां त्वं कथं साक्षात् अव्यवधानेन कदा तदा तस्मिन् काले क्व कल्याणकाले जन्मोत्सवादिसमये कथा भवन्तमीक्षितवतां अनिमेषलोचनतया उन्मीलितैर्लोचनैः किं वर्ण्यते कथ्यते न किमपि । स किञ्चदपि वक्तुमशक्यः इत्यर्थः ।।२४।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (अम्बुजदलस्मेरेक्षणाम्) कमल की पाँखुड़ी की तरह विकसित हैं नेत्र जिसमें ऐसे (त्वत्प्रति-बिम्बम्) आपके प्रतिबिम्ब—प्रतिमा को (पश्यताम्) देखने

वाले (अस्माकम्) हम लोगों की (दृष्टेः) आँखों को (यत्र) जहाँ (अहो) आश्चर्यकारक (इयान्) इतना (महोत्सव-रसः) महान् आनन्द (वर्तते) हो रहा है (तत्र) वहाँ (तदा) उस समय (कल्याणकाले) पंचकल्याणकों के काल में (अनिमेषलोचनतया) टिमकार रहित नेत्रों से (भवन्तम्) आपको (साक्षात्) रूप से (ईक्षितवताम्) देखने वाले (देवानाम्) देवों के (वृत्तः) प्रकट हुआ (सः) वह आनन्द (किम्) क्या (वर्ण्यते) वर्णित किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब हमें आपकी जड़ प्रतिमा के दर्शन करने से इतना अपार आनन्द होता है तब कल्याणकों के समय आपके दर्शन करने वाले देवों को जो आनन्द होता होगा उसका कौन वर्णन कर सकता है ? ।।२४।।

दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदं
दृष्टं सिद्धरसस्य सद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः ।
किं दृष्टैरथवानुषङ्गिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं
दृष्टं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे ।।२५।।

जिन श्री-गृह को देख रसायन का गृह देखा है जिनराज !
देखा निधियों का निवास-गृह, देखा सिद्ध-रसालय आज ।।
चिन्तामणि-निकेतन देखा, अथवा इनसे है क्या लाभ ।
देखा मैंने आज मुक्तिका परिणय-मंगल-गृह अभिताभ ।। २५ ।।

टीका—दृष्टमवलोकितं किं तत् धाम स्थानम्, कस्य रसायनस्य लाभोपायादिशस्तानां रसादीनां रसायनम् केन दृष्टं मया क्व सति जिनश्रीगृहे । अर्हतः श्रीमति चैत्यालये किंविशिष्टे दृष्टं दृष्टे तथा किं तत् पदं स्थानं केषां निधीनां पद्मशङ्खादीनां निधानानां किंविशिष्टानां महतां महद्भिराकांक्ष्यमाणानां तथा दृष्टम् । किं तत् सद्म महास्थानं कस्य सिद्धरसस्य समस्तसंस्कारोत्तीर्णस्य पारदस्य तथा दृष्टम् किं तत् सदनं स्थानं कस्य चिन्तामणेः चिन्तितार्थप्रदस्य रत्नविशेषस्य अथवा

किंकार्यकै: एभि: रसायनादिस्थानै: किंविशिष्टै: दृष्टै: किंविशिष्टै: एभि: आनुषङ्गिकफलै: गौणप्रयोजनै: । यतो दृष्टं किं तत् मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं मुक्ति: श्रीप्रत्यासन्नाभूदिति भाव: । केन मया कदा अद्य कथं ध्रुवं निश्चितं क्व सति दृष्टे जिनश्रीगृहे ।।२५।।

अन्वयार्थ—(*जिनश्रीगृहे*) *जिनमन्दिर अथवा जिनेन्द्ररूप* लक्ष्मी गृह के (दृष्टे 'सति'[1]) देखे जाने पर (मया) मैंने (रसायनस्य धाम दृष्टम्) रसायन का घर देख लिया, (महतां निधीनाम् पदम् दृष्टम्) बड़ी-बड़ी निधियों का स्थान देख लिया, (सिद्धरसस्य) सिद्ध हुए रसऔषधि विशेष का (सद्म दृष्टम्) घर देख लिया, (च) और (चिन्तामणे:) चिन्तामणि रत्न का (सदनम् दृष्टम्) घर देख लिया । (अथवा दृष्टै: एभि: आनुषङ्गिकफलै: किम्) अथवा देखे हुए इन गौण फलों से क्या लाभ है ? (ध्रुवम्) निश्चय से (अद्य) आज (मया) मैंने (मुक्तिविवाहमङ्गलगृहम् दृष्टम्) मुक्तिरूपी कन्या के विवाहमंगल का घर देख लिया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन, रसायन, निधि, सिद्धरस और चिन्तामणि की तरह उपकारी तो है ही परन्तु मुक्ति प्राप्ति का भी कारण है ।।२५।।

दृष्टस्त्वं जिनराजचन्द्र-विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले
स्नातं त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे ।
नीतश्चाद्य निदाघज: क्लमभर: शान्तिं मया गम्यते
देव ! त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात् पुनर्दर्शनम् ।।२६।।

हे जिनचन्द्र ! किये तव दर्शन औ' भूपति दृग-कुमुद-ललाम ।
विज्ञ चकोरोंको सुख प्रद तव संस्तुति-जलमें अति अभिराम ।।
स्नान किया है और आज ही शान्त किये हैं तापज क्लेश ।
अब जाता तव चिन्तन करता, तव दर्शन हो पुन: जिनेश ।। २६ ।।

टीका—अथ स्तोता भगवन्तं स्तुत्वा स्वाभिमतदेशं गन्तु विज्ञापयति । पुनदर्दर्शनं चाशंसति । हे जिनराजचन्द्र ! जिनानां

गणधरदेवादीनां राजा स्वामी संसृत्यपायपरित्रायकत्वात् । जिनराज एव चन्द्रः नयनमनसोराप्यायकत्वात् । तस्य सम्बोधनम् क्रियते । हे जिनराजचन्द्र ! दृष्टोऽवलोकितः । कोऽसौ त्वं केन मया अद्य स्नातं स्नानं कृतम् । आत्मा प्रक्षालित इत्यर्थः । क्व तव नुतिस्त्वन्नुतिः सैव चंद्रिकाम्भः ज्योत्स्नाजलं तस्मिन् किंविशिष्टो विकसन्ति फुल्लन्ति भूपेन्द्रनेत्रोत्पलानि यस्मात् । तत्तत्र भूपाश्च राजान इन्द्राश्च देवपतय-स्तेषां नेत्राणि तान्येवोत्पलानि पुनः किंविशिष्टः भवज्जायमानः विद्वच्च-कोराणां बुधोत्तमानां चतुरचकोरपक्षिणा च उत्सव आनन्दो यस्मात् तत्तत्र तथानीश्च प्रापितः । कोऽसौ क्लमभरः भवक्लेशग्लानिर्महिमा किं-विशिष्टः । अघनिदाघजः पापग्रीष्मप्रभवः कां नीतं शान्ति प्रशमम् । केन मया । तदिदानीं कृतकृत्यत्वात् । हे देव ! आराध्यस्वामिन् ! गम्यते गमनं क्रियते । केन मया किंविशिष्टेन त्वद्‌गतचेतसैव त्वां चिन्तयतैव यद्यप्येवं तत्तथापि श्रेयसे केन तृप्यत इति । भवतस्तव भूयादस्तु पुन-र्दर्शनं भूयोऽवलोकनमिति श्रेयः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(जिनराजचन्द्र) हे जिनेन्द्रचन्द्र ! (मया त्वम् दृष्टः) मैंने आपके दर्शन किये तथा (विकसद्‌भूपेन्द्रनेत्रोत्पले) जिसमें राजाओं के नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं ऐसे तथा (भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे) जिसमें विद्वान् रूप-चकोर पक्षियों को आनन्द हो रहा है ऐसे (त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि) आपकी स्तुति रूप जल में (स्नातम्) स्नान किया (च) और (अद्य) आज (निदाघजः) सन्ताप से उत्पन्न हुआ (क्लमभरः) खेद का समूह (शान्तिम् नीतः) शान्ति को प्राप्त कराया (देव) हे देव ! (त्वद्‌गतचेतसा एव मया गम्यते) अब मैं आपमें ही चित्त लगाता हूँ (भवतः दर्शनम् पुनः भूयात्) आपके दर्शन फिर भी हों ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने आपके दर्शन किये और स्तुति भी की । तथा मनका समस्त सन्ताप भी दूर किया । अब मैं जाता हूँ, पर मेरा चित्त आपमें ही लग रहा है । मैं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे आपके दर्शन फिर भी प्राप्त होवें ।।२६।।

संस्कृत टीका प्रशस्तिः

उपशम इव मूर्त्तिः पूतकीर्तिः स तस्माद्
*जयति विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसन्दर्भगर्भाः
शुचिचरितसहिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ।।

संवत्सरे वसमुनिसप्तेन्दुमिते (१७७८) भाद्रपदकृष्णद्वादशीतिथौ मोजावादनगरे श्रीमूलसङ्घे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकोत्तमजी श्रीश्री १०८ देवेन्द्रकीर्तिजी कस्य शासनकारि बुधजी श्रीहीरानन्दजी कस्य शिष्येन विनयवता चोखचन्द्रेण स्वहस्तेन स्वपठनार्थं लिखितेयं भूपालचतुर्विंशतिका टीका । वाचकानां सततं शं भूयात् ।

विनयचन्द्रस्यार्थमित्याशाधरविरचिता भूपालचतुर्विंशतेर्जिनेन्द्रस्तुतेष्टीका परिसमाप्ता ।

अर्थ—सज्जनरूपी चकोर के लिए चन्द्रमा के समान तथा पवित्र कीर्ति के धारक वह विनयचन्द्र जयशील हों, जिनकी पवित्र चरित्र के कारण वीतरागता को प्राप्त अमृत रस से भरी हुई तथा शास्त्रों के सन्दर्भ से परिपूर्ण वाणी संसार के कल्याण के लिए आधारभूत है ।

इस प्रकार विनयचन्द्र के लिए श्री आशाधर के द्वारा विरचित भूपालचतुर्विंशतिका नामक जिनेन्द्र स्तुति की टीका समाप्त हुई ।

संवत् १७७८ भाद्रपद कृष्ण १२ तिथि को मोजाबाद नगर में श्री मूलसंघ नन्दि-आम्नाय बलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दा-चार्यन्वय में भट्टारकोत्तम श्री श्री १०८ देवेन्द्रकीर्तिजी हुए। उनके आज्ञाकारी शिष्य बुधजी हीरानन्दजी के विनयशील शिष्य चोखचन्द्र ने अपने पढ़ने के लिए अपने हाथ से यह भूपालचतुर्विंशतिका टीका लिखी । वाचकों का सर्वदा कल्याण होवे ।

इति भूपालकविप्रणीता जिनचतुर्विंशतिका समाप्ता

---

* 'अर्जति' इति मूलपाठः ।

कविवर भूधरदासजी कृत पुरातन हिन्दी पद्यानुवाद

जिनचतुर्विंशतिका

दोहा

सकल सुरासुर पूज्य नित, सकल सिद्धि दातार।
जिनपद बन्दूँ जोरकर, अशरन जन आधार॥

चौपाई छन्द १५ मात्रा

श्री सुखावास महीकुल धाम। कीरति-हर्षण-थल अभिराम॥
सुरसुति के रति-महल महान। जय जुवतीको खेलत थान॥
अरुण तरण वांछित वरदाय। जगतपूज्य ऐसे जिन पाय॥
दर्शन प्राप्त करै जो कोय। सब शिवथानक सो जन होय॥ १॥

निर्विकार तुम सोम-शरीर। श्रवण सुखद वाणी गम्भीर॥
तुम आचरण जगत में सार। जब जीवनको है हितकार॥
महानिंद भवमारू देश। तहाँ तुंग-तरु तुम परमेश॥
सघन छाँह मंडित छवि देत। तुम पंडित सेवैं सुख हेत॥ २॥

गर्भ-कूपतैं निकस्यौ आज। अब लोचन उघरे जिनराज॥
मेरो जन्म सफल भयो अबै। शिव-कारण तुम देखे जबै॥
जगजन-नैन कमल वन खंड। विकसावन शशि-शोक विहंड॥
आनंद करन प्रभा तुम तणी। सोई अमीझरन चाँदणी॥ ३॥

सब सुरेन्द्र शेखर शुभ रैन। तुम आसन तट माणिक ऐन॥
दोऊ दुति मिलि झलकैं जोर। मानो दीपमाल दुहुँ ओर॥
यह सम्पत्ति अरु यह अनचाह! कहाँ सर्वज्ञानी शिवनाह॥
तातैं प्रभुता है जगमाँहि। सही असम है संशय नाहिं॥ ४॥

सुरपति जान अखंडित बहै। तृण ज्यों राज्य तज्यो तुम वहै॥
जिन छिनमें जग-महिमा दली। जीत्यो मोह-शत्रु महाबली॥
लोकालोक अनंत अशेख। कोनों अंत ज्ञानसों देख॥
प्रभु प्रभाव यह अद्भुत सबै। अवर देव में भूल न कबै॥५॥

पात्रदान तिन दिन-दिन दियो। तिन चिरकाल महातप कियो॥
बहुविधि पूजाकारक वही। सर्वशील पालें उन सही॥
और अनेक अमल गुण रास। प्रापति आप भये सब तास॥
जिन तुम सरधासों कर टेक। दृग वल्लभ देखे छिन एक॥६॥

त्रिजग-तिलक तुम गुणगण जेह। भव-भुजंग विषहर-मणि तेह॥
जो उर कानन माहिं सदीव। भूषण कर पहरै भवि जीव॥
सोई महामती संसार। सो श्रुतसागर पहुँचे पार॥
सकल लोक में शोभा लहै। महिमा जाग जगत में बहै॥७॥

दोहा

सुर समूह ढोलै चमर चंदकिरण द्युति जेम।
नवतन-बधू कटाक्षतैं, चपल चलैं अति एम॥
छिन-छिन ढलकैं स्वामिपर, सोहत ऐसो भाव।
किधौं कहत सिधि लच्छसों, जिपपतिके ढिग आव॥८॥

चौपाई छन्द १५ मात्रा

शीश छत्र सिंहासन तलैं। दिपै देह-दुति चामर ढलें॥
बाजें दुंदुभि बरसैं फूल। ढिग अशोक बाणी सुखमूल॥
इहविधि अनुपम शोभा मान। सुर नर सभा पदमनी भान॥
लोकनाथ बंदै शिरनाय। सो हम शरण होहु जिनराय॥९॥

सुर-गजदंत कमल-वन माहिं। सुर नारीगण नाचत जाँहि॥
बहुविधि बाजे बाजैं थोक। सुन उछाह उपजै तिहुँ लोक॥
हर्षत हरि जै जै उच्चरैं। सुमन-माल अपछर कर धरैं॥
यों जन्मादि समय तुम होय। जपो देव देवागम सोय॥१०॥

तोष बढावन तुम मुखचंद । जन नयनामृत करन अमन्द ॥
सुन्दर दुतिकर अधिक उजास । तीन भुवन नहिं उपमा तास ॥
ताहि निरखि सनयन हम भये । लोचन आज सुफल कर लये ॥
देखन योग जगत में देख । उमग्यो उर आनंद विशेख ॥ ११ ॥

कैंयक यों माने मतिमंद । विजितकाम विधि ईश मुकंद ॥
ये तो हैं वनितावश दीन । काम-कटक जीतन बलहीन ॥
प्रभु आगैं सुरकामिनि करैं । ते कटाक्ष सब खाली परैं ॥
यातैं मदन-विध्वंसन वीर । तुम भगवंत और नहिं धीर ॥ १२ ॥

दर्शनप्रीति हियै जब जगी । तबै आम्र कोंपल बहु लगी ॥
तुम समीप उठ आवन ठयो । तब सों सघन प्रफुल्लित भयो ॥
अबहूँ निज नैनन ढिग आय । मुख-मयंक देख्यो जग राय ॥
मेरो पुन्न-विरख इहि बार । सुफल फल्यो सब सुख दातार ॥ १३ ॥

दोहा

त्रिभुवन-वनमें विसतरी, काम दवानल . जोर ।
वाणी बरषाभरण सों, शांति करहु चहुँ ओर ॥
इन्द्र मोर नाचैं निकट, भक्ति भाव धर मोह ।
मेघ सघन चौबीस जिन जैवंते जग होय ॥ १४ ॥

चौपाई छन्द १५ मात्रा

भविजन कुमुदचन्द सुख दैन । सुर-नर नाथ प्रमुख जग जैन ॥
ते तुम देख रमैं इहि भाँति । पहुप गेह लह ज्यों अलि पाँति ॥
शिरधर अंजुलि भक्ति समेत । श्रीगृह प्रति परिदक्षण देत ॥
शिव-सुख की सी प्रापति भई । चरणछाँहसों भव-तप गई ॥ १५ ॥

वह तुम पद नख दर्पण देव । परमपूज्य सुन्दर स्वयमेव ॥
तामैं जो भविभाग विशाल । आनन अवलोके चिरकाल ॥
कमला-कीरति कांति अनूप । धीरज प्रमुख सकल सुखरूप ॥
वे जग-मंगल कौन महान । जो न लहैं वह पुरुष प्रधान ॥ १६ ॥

इन्द्रादिक श्रीगंगा जेह। उत्पति थान हिमाचल येह॥
जिन मुद्रा-मंडित अति लसै। हर्ष होय देखें दुःख नसै॥
शिखर ध्वजागण सोहैं एम। धर्म सुतरुवर पल्लव जेम॥
यों अनेक उपमा आधार। जयो जिनेश जिनालय सार॥ १७॥

शीश नवाय नमत सुरनार। केशकांति मिश्रित मनहार॥
नख उद्योत बरतैं जिनराज। रजनिशि पूरित किरण समाज॥
स्वर्ग नाग नरनायक संग। पूजत पाय-पद्म अतुलंग॥
दुपट कर्म दल-दलन सुजान। जैवंतो बरतो भगवान॥ १८॥

सोकर जागै सो धीमान। पंडित सुधी सुमुख गुणवान॥
आपन मंगल हेतु प्रशस्त। अवलोकन चाहै कुछ बस्त॥
और वस्तु देखै किस काज। जो तुम मुख राजै जिनराज॥
जीन लोकको मंगल-थान। प्रेक्षणीय तिहुँ जग-कल्यान॥ १९॥

धर्मोदय तापस गृह कीर। काव्यबंध वन-पिक तुम वीर॥
मोक्षमल्लिका मधुप रसाल। पुण्य कथा कज सरसि मराल॥
तुम जिनदेव सुगुण मणिमाल। सर्वहितंकर दीनदयाल॥
ताको कौन न उन्नत काय। धरै किरीट माँहि हर्षाय॥ २०॥

केई वांछै शिवपुर वास। केई करैं स्वर्ग-सुख आस॥
पचै पंचानल आदिक ठान। दुख बँधे जस बँधे अयान॥
हम श्रीमुख वाना अनुभवै। सरधा पूरब हिरदै ठवैं॥
तिस प्रभाव आनन्दित रहैं। स्वर्गादिक सुख सहजै लहैं॥ २१॥

न्होन महोच्छव इन्द्रन कियो। सुरतिय मिल मंगल पद लियो॥
सुयश शरद चन्द्रोपम सेत। सो गंधर्व गान कर लेत॥
और भक्ति जो जो जिस जोग। शेष सुरन कीनी सुनियोग॥
अब प्रभु करैं कौन सी सेव। हम चित भयो हिंडोलो एव॥ २२॥

जिनवर जन्म कल्यानक थोस । इन्द्र आप नाचें कर होस ।।
पुलकित अंग पिता-घर आय । नाचत विधिमें महिमा गाय ।।
अमरी बीन बजावें सार । धरी कुचाग्र करत झंकार ।।
इहविधि कौतुक देख्यो जबै । औसर कौन कहि सकै अबै ।। २३ ।।

श्रीप्रतिबिम्ब मनोहर एम । विकसित वदन कमल दल जेम ।।
ताहि हेर हरखें दृग दोय । कह न सकूँ इतनी सुख होय ।।
तब सुरसंग कल्यानक काल । प्रगट रूप जोवै जग पाल ।।
इकटक दृष्टि एक चितलाय । यह आनंद कहाँ क्यों जाय ।। २४ ।।

देख्यो देन-रसायन धाम । देख्यो नवनिधि को विसराम ।।
चिंतारयन सिद्ध रस अबै । जिनगृह देखत देखें सबै ।।
अथवा इन देखे कछु नाँहि । यह अनुरागी फल जगमाँहि ।।
स्वामी सरयो अपूरब काज । मुक्ति समीप भई मुझ आज ।। २५ ।।

अब बिनवै 'भूपाल' नरेश । देखे जिनवर हरन कलेश ।।
नेत्र कमल विकसे जगचंद्र । चतुर चकोर करन आनंद ।।
थुति जलसों यो पावन भयो । पाप ताप मेरो मिट गयो ।।
मो चित्त हैं तुम चरनन माहिं । फिर दर्शन हूज्यो अब जाहिं ।। २६ ।।

छप्पय छन्द

इहिविधि बुद्धि विशालराय 'भूपाल' महाकवि ।
कियो ललित थुति पाठ, हिये सब समझ सकै नवि ।।
टीका के अनुसार, अर्थ कछु मन में आयो ।
कहीं शब्द कहिं भाव, जोड़ भाषा जस गायो ।।
आतम पवित्र कारण किमपि, बाल-ख्याल सो जानियो ।
लीज्यो सुधार 'भूधर' तणी, यह विनती बुध मानियो ।। २७ ।।

एकीभावस्तोत्र के रचयिता

वादिराज मुनिराज

एकीभावस्तोत्र के रचयिता श्री आचार्य वादिराज वि० की ११वीं शताब्दी के महान् विद्वान् थे। वादिराज यह उनकी पदवी थी, नाम नहीं। जगत्प्रसिद्ध वादियों में उनकी गणना होने से वे वादिराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपकी गणना जैनसाहित्य के प्रमुख आचार्यों में की जाती है।

वादिराज स्वामी का चौलुक्य नरेश जयसिंह (प्रथम) की सभा में बड़ा सम्मान था। पूर्वकृत पापोदय से आचार्यश्री के शरीर में कुष्ट रोग हो गया। निस्पृही वीतरागी संत अपने आत्मध्यान में ही लीन रहते थे। शरीर की वेदना से उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। किन्तु जिनधर्मद्वेषी एक दुष्ट स्वभावी विद्वान् ने राजसभा में मुनिश्री का घोर उपहास कर राजा से कहा—राजन् ! तुम जैनधर्म की इतनी मान्यता करते हो, श्रेष्ठ कहकर उनके साधुओं का सम्मान करते हो पर यह नहीं जानते कि "जैन साधु कोड़ी (कुष्ट-ग्रस्त)" होते हैं। राजश्रेष्ठी को यह उपहास सहन नहीं हुआ। उसने भक्तिवशात् राजा से कहा—राजन् ! यह असत्य है जैन मुनियों की काया तपाये स्वर्ण के समान सुन्दर और तेजोदीप्त होती है।

राजा ने निर्णय लिया कि प्रातः आचार्यश्री के दर्शनार्थ चला जाये। इधर राजश्रेष्ठी दौड़ता हुआ आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा। उसने आचार्यश्री से अपनी करुण कथा कह सुनायी और कहा प्रभो ! अब जिनधर्म की रक्षा का प्रश्न है। आप जो उचित समझें, करें। आचार्यश्री ने उन्हें आशीर्वाद दिया और आदिनाथजी की भक्ति में लीन हो एकीभावस्तोत्र की रचना कर डाली। जिनभक्ति में लीन मुनिश्री जिनेन्द्र भक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं—हे भगवन् ! भव्य जीवों के पुण्योदय से स्वर्ग से माता के गर्भ में आने वाले आपके द्वारा छः माह पूर्व

ही यह पृथ्वी कनकमयता को प्राप्त करा दी गई थी। हे जिनेन्द्र ! ध्यानरूपी द्वार से मेरे मनरूपी मन्दिर में प्रविष्ट हुए आप कुष्ट रोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को आप सुवर्णमय कर रहे हो इसमें क्या आश्चर्य है। अथवा हे जिन ! जो कोई आपके दर्शन करता है, वचनरूपी अमृत का भक्तिरूपी पात्र से पान करता है तथा कर्मरूपी मन से आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम दुर्वार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष में ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते हैं ?

जिनभक्ति के प्रसाद से रातभर में ही उनका गलित कुष्ठग्रस्त शरीर स्वर्णवत् चमकने लगा। प्रातः राजा, राजश्रेष्ठी और जिनधर्मद्वेषी सभी आचार्यश्री के दर्शनार्थ चल दिये। उसी जंगल में आ पहुँचे जहाँ मुनिश्री ध्यान में लीन थे। उनका तेज दूर तक फैल रहा था। चमकती देहकान्ति को देखते ही राजश्रेष्ठी आनन्दविभोर हो गया। राजा ने पूछा—श्रेष्ठी, क्या ये ही आपके गुरु हैं ? सेठजी ने कहा—जी ! हाँ। राजा उनके पावन चरणों में नतमस्तक हुआ और द्वेषियों की ओर कोप-भरी दृष्टि से देखने लगा। सबके सब थर-थर काँपने लगे। मुनिश्री ने कहा—राजन् ! यह सत्य है कि मेरे शरीर में कुष्ट था, अभी भी मेरी कनिष्ठा अंगुली में इसका प्रभाव शेष है। किन्तु "जैनधर्म के सभी साधु कोढ़ी होते हैं" इस आक्षेप को दूर कर जिनधर्म की प्रभावना के लिए मैंने भक्ति के प्रसाद से यह रोग एक रात में दूर कर दिया है। अतः इन बेचारों की कोई गलती नहीं। राजा मुनिश्री के वचनों को सुन दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ। राजा ने व जिनधर्म द्वेषियों ने आचार्यश्री से क्षमा प्रार्थना की और जिनधर्म को धारण कर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

ॐ

श्रीमद्वादिराजसूरिकृत

एकीभावस्तोत्रम्

(टीकाद्वय-संयुक्तम्)

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो,
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तदा कोऽपरस्तापहेतुः ॥ १ ॥

पं० भूधरदास कृत पद्यानुवाद

वादिराज मुनिराजके, चरण कमल चित लाय।
भाषा एकीभाव की, करूँ स्वपर सुखदाय ॥
जो अति एकीभाव भयो मानो अनिवारी।
सो मुझ कर्म प्रबन्ध करत भव भव दुख भारी ॥
ताहि तिहारी भक्ति जगतरवि जो निरवारै।
तो अब और कलेश कौन सो नाहि विदारे ॥ १ ॥

टीका—जिनेषु रविः सूर्यस्तस्यामंत्रणे हे जिनवरे ! यः कर्मबन्धः अष्टकर्मणां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्विधो बंधः स्वयं घोरं निविडं दुःखं करोति विदधाति। कीदृशः कर्मबन्धः मयासह एकीभाव गत इव— एकत्वमापन्न इव। पुनः भव भगवतः प्रतिभवंगतः पुनः दुःखेन निवार-यितुमशक्यः दुर्निवारः। तस्य कर्मबन्धस्य अस्यापि दुःखस्यापि चेत्। यदि त्वयि भगवति विषये भक्तिः तर्हि उन्मुक्तये उन्मोचनाय भवति। तथा-वद्तया भक्त्या कृत्वा कः अपर स्तापहेतुः को वा जेतुं न शक्यो भवति ? जयो भवतीत्यर्थः। भो जिन ! संसार संतापं त्वद्भक्ति बिना कोपि जेतुं शक्तो न भवतीति तात्पर्यम्। अपितु जेतुं शक्य इत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे (जिनरवे) हे जिनसूर्य ! (मया-सह) मेरी आत्माके साथ (स्वयं) अपने आप (एकीभावं) तन्मयताको (गत इव) प्राप्त हुए की तरह (दुर्निवारः) बड़ी कठिनाई से दूर करने योग्य (यः) जो (कर्मबंध) ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार का अथवा प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेश के भेद-से होने वाला चार प्रकार का कर्मबंध (भव-भवगतः) [सन्] प्रत्येक पर्याय में साथ जाता हुआ (घोरम्) भयानक (दुःखम्) दुःख को (करोति) करता है। (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (भक्ति) भक्ति अनुरागविशेष (चेत्) यदि (तस्यापि अस्य) उस कर्मबन्ध और इस दुःख के भी (उन्मुक्तये) छुड़ाने—दूर करने के लिये है (तर्हि) तो फिर (तया) उस भक्ति के द्वारा (अपरः) दूसरा (कः) कौन (तापहेतुः) सन्ताप का कारण (जेतुं शक्यः न भवति) जीता नहीं जा सकता ? अर्थात् अवश्य जीता जा सकता है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब आपकी समीचीन भक्ति के द्वारा चिरपरिचित और अत्यन्त दुःखदायी एवं आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिले हुए कर्मबन्ध न भी दूर किये जाते हैं तब दूसरा ऐसा कौनसा सन्ताप का कारण है जो कि उस भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता अर्थात् दुःखके सभी कारण नष्ट किये जा सकते हैं ।। १ ।।

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतु,
त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः ।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ।।२।।

तुम जिन ज्योतिस्वरूप, दुरितअंधियार निवारी ।
सो गणेश गुरु कहैं, तत्त्व विद्या-धन धारी ।।
मेरे चित-घरमाँहि, बसौ तेजोमय यावत ।
पापतिमिर अवकाश, तहाँ सो क्योंकर पावत ।। २ ।।

टीका—जिनेषु गणधरदेवेषु वरः श्रेष्ठस्तस्यामंत्रणे हे जिनवर ! चिरं चिरकालं तत्त्वविद्याभियुक्ताः तत्वज्ञानिनोगणधर-देवादयः त्वामेव ज्योतीरूपं परतेजः स्वरूपं अर्हं इत्याहुः भणन्ति तत्त्वविद्याभिः अभियुक्ताः संयुक्ताः तत्त्वविद्याभियुक्ताः ज्योतिस्तेजः एवरूपं यस्य स तं । कीदृशं त्वा-दुरितानां पापानां निवहः समूहः स एव ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वंसस्यहेतुः कारण तं भो देव च पुनः मम चेतोवासे मनोगृहे स्फारं बहुलं यथास्यात्तथा उद्भासमानः दीप्यमानः सन् त्वं भवसि जातोसि । तस्मिन् मनोगृहे अंहः पापं तदेव तमोऽधकारं । कथमिव किमिव ? वस्तुतो-निश्चयात् वस्तुं स्यातुं ईष्टे स्थितिं करोति न ईष्टे इत्यर्थ ।। २ ।।

अन्वयार्थ—(हे जिनवर) कर्म शत्रुओंको जीतने वालों में श्रेष्ठ हे जिनेन्द्र ! जब कि (तत्त्वविद्याभियुक्ताः) तत्वज्ञानी गणधरादिदेव (चिरं) चिरकाल से (त्वाम् एव) आपको ही (दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं) पापसमूहरूपी अन्धकार के नाश करने में कारणभूत (ज्योतीरूपम्) तेजरूप ज्ञानस्वरूप (आहुः) कहते हैं । (च) और आप (मम) मेरे (हमारे) (चेतोवासे) मनरूपी मन्दिर में (स्फारं) अत्यन्त रूपसे निरन्तर (उद्भासमानः) प्रकाशमान (भवसि) हो रहे हो तब (तस्मिन्) उस मन्दिर में (वस्तुतः) निश्चय से (अंहः तमः) पापरूपी अन्धकार (वस्तुं) निवास करने के लिए—ठहरने के लिए (कथमिव) किस तरह (ईष्टे) समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

भावार्थ—हे नाथ ! जबकि आपको, अतिशय बुद्धि के धारक गणधरादि देवों ने पापरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य के समान कहा है और आप मेरे मन-मन्दिरमें अच्छी तरह से प्रकाशमान भी हो रहे हैं, तब उसमें पापरूपी अन्धकार कैसे ठहर सकता है ? अर्थात् जो आपको अपने हृदयमें धारण करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।। २ ।।

आनन्दाश्रु स्नपित वदनं गद्गदं चाभिजल्पन्,
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देह-वल्मीक-मध्या-
न्निष्कास्यन्ते[1] विविध विषमव्याधयः काद्रवेयाः ।। ३ ।।

आनंद आँसु वदन धोय तुमसों चित सानै,
गद्गद सुरसों सुयशमंत्र पढ़ि पूजा ठानै ।
ताके बहुविधि व्याधि व्याल चिरकालनिवासी,
भाजैं थानक छोड़ देह-बाँबईके वासी ।। ३ ।।

टीका—यः कश्चित् पुमान् भवंतं त्वां स्तोत्रमंत्रैः कृत्वा स्तवनरूपमंत्रैः आनन्दाश्रुभिः हर्षाश्रुभिः स्नपित वदनं यत्र तत् यथास्यात्तथाचायेत् पूजयेत् च स्तुतिं कुर्यात् । च पुनः हर्षात्, गद्गदं अव्यक्तशब्दं अभिजल्पन् कथंभूतो यः त्वयि परमेश्वरे दृढं निश्चलं मनोयस्य सः । एकाग्रचित्तः तस्य पुरुषस्य देहवल्मीकमध्यात् विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः नानाविधविषमरोगलक्षणाः सर्पाः निष्कासन्ते बहिः निर्गच्छन्ति । देहः शरीरं स एव वल्मीकस्तस्य मध्यं तस्मात् । विविधानानाप्रकारा विषमश्चते व्याधयश्च विविधविषमव्याधयः । कद्रोरपत्यानि काद्रवेयाः कथम्भूताः विविधविषव्याधयः काद्रवेयाः सुचिरं चिर अभ्यस्ता अपि चिरं निवसिता अपि विविधविषयव्याधयः । इति पाठान्तरे विविधः नानाविधः विषयो येषां ते स्तोत्रमेवमंत्राः स्तोत्रमंत्रास्तैः स्तोत्रमंत्रैः ।। ३ ।।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (आनन्दाश्रु स्नपितवदनं च गद्गदं) आनन्दाश्रुओं—हर्षरूपी आँसुओंसे मुखको प्रक्षालित करता हुआ और अव्यक्त ध्वनिसे (अभिजल्पन्) स्तुति करता हुआ (यः) जो मनुष्य (स्वयं) आपमें (दृढ़मनाः) स्थिर चित्त

---

१. निष्कासन्ते पाठः ग पुस्तके वर्तते । संस्कृत टीकाकार ने भी इसी पाठ को अपनाकर व्याख्या की है ।

होकर (स्तोत्रमंत्रै) स्तवनरूप मंत्रों से (भवन्तम्) आपको (अर्चेत्) पूजता है—स्तुति करता है। (तस्य) उसके (सुचिरम्) चिरकालसे (अभ्यस्तात अपि) परिचित भी (देह-वल्मीक-मध्यात्) शरीररूपी वामीके मध्यसे—बीचसे (विविधविषम-व्याधय:) अनेक प्रकारके कठिन रोगरूपी (काद्रवेया:) साँप (निष्कास्यन्ते) बाहर निकाल दिये जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार समीचीन मंत्रों की सामर्थ्यसे वामीके मध्य भागसे साँप बाहर निकाल दिये जाते हैं ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र के स्तवनरूप मंत्रोंसे, स्तवन-पूजन करने वाले भव्य पुरुषोंकी विषम विषयरूप व्याधियाँ भी दूर कर दी जाती हैं। अर्थात् जो मनुष्य भक्ति पूर्वक-श्रद्धासे सम्पन्न होकर एकाग्रचित्त से जिनेन्द्र भगवान् का पवित्र स्तवन करता है उसके पुरातन विषम रोग भी दूर हो जाते हैं और उसका शरीर निरोग हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्-
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्येत्वयेदम्।
ध्यानद्वारं ममरुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किंचित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि ॥ ४ ॥

दिवितैं आवनहार भये भविभाग उदयबल,
पहले ही सुरआय कनकमय कीय महीतल।
मनगृहध्यानदुवार आय निवसो जगनामी,
जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी ॥ ४ ॥

टीका—भो देव-भव्यपुण्यात् त्रिदिव भुवनात् स्वर्गलोकात् इहलोके एष्यता समागमिष्यता त्वया परमेश्वरेण प्रागेवपूर्वमेव इदं पृथ्वीचक्रं भूवलयं रत्नवृष्ट्यादिभि: कनकमयतां सुवर्णमयतां निन्ये नीतं। त्रिदिव: स्वर्गस्तस्य भवनं गृह विमानं वा तस्मात्। भव्यानां पुण्यं भव्यपुण्यं तस्मात् एष्यतीति एष्यंस्तेन एष्यता। पृथव्याश्चक्रं पृथ्वी-

चक्रं । कनकविकारं कनकमयंतस्यभावस्तां । हे जिन ! मम स्वान्तगेहं ममान्त करणमंदिरं त्वं प्रविष्टः सन् यत् इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णीकरोषि, तत्किंचित्रं तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्य-मित्यर्थः । असुवर्णं सुवर्णं करोषि, इति सुवर्णीकरोषि । स्वान्तमेव गेहं स्वान्तगेहं कीदृशं स्वान्तगेहं । ध्यानमेवद्वारं यस्मिन् तत् । पुनः रुचिं करोतीति रुचिकरं मनोहरमित्यर्थः ।। ४ ।।

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे भगवन् ! (भव्यपुण्यात्) भव्यजीवोंके पुण्यके द्वारा (इह) यहाँ पर (त्रिदिवभवनात्) स्वर्गलोकसे माता के गर्भ में (एष्यता) आने वाले (त्वया) आपके द्वारा (प्राक्एव) पहले ही जब (इदम्) यह (पृथ्वीचक्रम्) भूमण्डल पृथ्वी मण्डल (कनकमयतां) सुवर्णमयता को (निन्ये) प्राप्त कराया गया था । तब (हे जिन !) हे जिनेन्द्र ! (ध्यानद्वारं) ध्यानरूपी दरवाजे से युक्त (मम) मेरे (हमारे) (रुचिकरम्) सुन्दर (स्वान्तगेहं) मनरूपमन्दिर में (प्रविष्टं) प्रविष्ट हुए (इदं वपुः) इस शरीरको—कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीरको (यत्) जो (सुवर्णीकरोषि) सुवर्णमय कर रहे हो (तत्किंचित्रम्) उसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जब कि स्वर्गलोकसे माता के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही आपने इस पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमय बना दिया, तो फिर ध्यान के द्वारा मेरे मनोहर अन्तःकरणरूप मन्दिर में प्रविष्ट हुए आप कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को यदि सुवर्णमय बना दें तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं ।। ४ ।।

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु-
स्त्वय्येवाऽसौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका ।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन् मामिकां चित्तशय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ।। ५ ।।

प्रभु सब जगके बिनाहेत, बाँधव उपकारी,
निरावरण सर्वज्ञ शक्ति जिनराज तिहारा।
भक्ति रचित ममचित्त सेज नितवास करोगे,
मेरे दुख-संताप देख किम धीर धरोगे ॥ ५ ॥

टीका—हे भगवन् ! त्वं एक अद्वितीयो लोकस्य निर्निमित्तेन निष्कारणेन बांधवो वर्तसे। त्वय्येवासौ शक्तिः सकल विषया वर्तते सकलं विषयो यस्याः सा। कथंभूताशक्तिः अप्रत्यनीका प्रतिषेधरहिता। कीदृशीं तां मामिकां मदीयां चित्तशय्यां चिरं चिरकालं अधिवसन्। ममेयं मामिका तां, चित्तमेवशय्या चित्तशय्या तां। कीदृशीं चित्तशय्यां भक्त्यास्फीतां महतीभक्तिः तया स्फीतां तां। यतः कारणात् निष्कारणं बंधुस्तत् कारणात् मय्युत्पन्नं क्लेशयूथं कष्टसमूहं कथमिव सहेथाः किमिव सहनं कुर्वीथा, क्लेशानां यूथ क्लेशयूथम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(हे भगवन् !) हे भगवन् ! जब (त्वम्) आप (लोकस्य) संसार के प्राणियों के (निर्निमित्तेन) स्वार्थ रहित—बिना किसी प्रयोजन के (एकः) अद्वितीय (बन्धु असि) बन्धुहित करने वाले हो। और (असौ) यह (सकलविषया-शक्तिः) सब पदार्थों को विषय करने वाली शक्ति भी (त्वयि) आपमें ही (अप्रत्यनीका) बाधा रहित है। (ततः) तब (भक्तिस्फीताम्) भक्ति के द्वारा विस्तृत (मामिकां) मेरी—हमारी (चित्तशय्याम्) मनरूपी पवित्र शय्या पर (अधिवसन्) निवास करने वाले आप (मयि उत्पन्नम्) मुझ में उत्पन्न हुए (क्लेशयूथं) दुःख समूह को (कथमिव) कैसे (सहेथाः) सहन करोगे, अर्थात् नहीं करोगे।

भावार्थ—हे नाथ ! आप संसारी जीवों के अकारण बन्धु हैं और आपकी सकल पदार्थविषयक यह अपूर्व एवं अनन्तशक्ति प्रतिपक्षी कर्मों के प्रतिघात से रहित है, क्योंकि वह कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई है। फिर आप चिरकाल तक हमारे पवित्र मन-मन्दिर में निवास करते हुए भी क्या दुःखों का नाश नहीं करेंगे

अर्थात् अवश्य करेंगे। जो भद्र मानव आपका भक्तिपूर्वक निरन्तर ध्यान एवं चिन्तन करता है उसके दुःख दूर होना तो सहज ही है किन्तु उसके जटिल कर्मों का बन्धन भी ढीला पड़ कर नष्ट हो जाता है और आत्मा विकसित होता हुआ परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है ।। ५ ।

जन्माटव्यां कथमपि मयाऽऽ देव दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तवनयकथा स्फारपीयूषवापी !
तस्या मध्ये हिमकर हिमव्यूहशीतेनितान्तं,
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ।। ६ ।।

भव वन में चिरकाल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई,
तुम थुति कथा पियूष वापिका भागन पाई।
शशितुषार घनसार हार शीतल कहिं जासम
करत न्हौन तामाँहि क्यों न भवताप बुझै मम ।। ६ ।।

टीका—हे देव ! भो स्वामिन् ! मया जन्माटव्यां भवारण्ये दीर्घं भ्रमित्वा कथमपि महताकष्टेन इयमेव तव भगवतः नयकस्थाफार-पीयूषवापी अनेकान्तमतोदार सुधारसदीर्घिका प्राप्ता लब्धा जन्मैवअटवी जन्माटवी तस्यां जन्माटव्यां, नयकथैवस्फारपीयूषवापी नयकथास्फार-पीयूषवापी तस्यावापिकाया मध्ये नितान्तमतिशयेन निर्मग्नं मां दुःखदावोप तापाः कृच्छ्रादावानलपरितापाः कथं न जहति किं न त्यजन्ति ? अपि तु जहतीत्यर्थः । दुःखान्येव दावाः दुःखदावास्तेषां उपतापाः । कथंभूतावापी मध्ये हिमकरश्चन्द्रधिमस्तस्त व्यूहः समूहस्तद्वत् शीते शीतलं इत्यर्थः ।। ६ ।।

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! (मया) मेरे द्वारा (जन्माटव्यां) संसाररूपी अटवी में (दीर्घं) बहुत काल तक (भ्रमित्वा) घूमकर अथवा घूमने के बाद (तव) आपकी (इयम्) यह (नयकथा) स्याद्वाद नय कथारूपी (स्फारपीयूष-वापी) बड़ी भारी अमृत रस से भरी हुई बावड़ी (कथमपि)

किसी तरह बड़े कष्ट से (प्राप्ताएव) प्राप्त कर ली गई है । फिर भी, (हिमकरहिमव्यूहशीते) चन्द्रमा और बर्फ के समूह से भी शीतल (तस्याः) उसके (मध्ये) बीच में (नितान्तम्) अत्यन्त रूप से (निर्मग्नं) डूबे हुए (माम्) मुझको (दुःखदावोपतापाः) दुःखरूपी दावानल के सन्ताप को (कथं न जहति) क्यों नहीं छोड़ते हैं ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! मुझे इस संसाररूप विषम अटवी में भ्रमण करते हुए और दुःखों को सहते हुए अनन्तकाल बीत गया है । अब मुझे बड़े भारी भाग्योदय से यह आपकी स्याद्वादनय रूप अमृतरस से भरी हुई वापिका—बावड़ी प्राप्त हुई है जो चन्द्रमा और बर्फ से भी अत्यन्त शीतल है । ऐसी वापिका में उन्मज्जन करते हुए मेरे क्या थोड़े से दुःख-सन्ताप दूर न होंगे ? किन्तु अवश्य ही दूर होंगे ।। ६ ।।

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः ।
सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे,
श्रेयः किं तत् स्वयमहरहर्यन्नमामभ्युपैति ।। ७ ।।

श्री विहार परिवाह होत शुचिरूप सकल जग ।
कमल कनक अभाव सुरभि श्रीवास धरत पग ।।
मेरो मन सर्वंग परस प्रभु को सुख पावै ।
अबसो कौन कल्यान जोन दिन दिन ढिग आवै ।। ७ ।।

टीका—हे भगवन् ! ते तव पादन्यासादपि भवच्चरणारोपणादपि पद्मः कमलं हेमाभासो भवति । हेमवदाभासा यस्य स च पुनः पद्मः तव पादन्यासात् श्रीनिवासः लक्ष्म्या गृहं भवति । श्रियाः निवासः श्रीनिवासः, कथंभूतस्य तव यात्रया भव्य प्राणि प्रबोधार्थं विहारः । क्रमेण त्रिलोकीं पुनः पवित्रयतः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तां । हे देव त्वयि परमेश्वरे सर्वाङ्गेण सर्व शरीरेण मे मम अशेषं मनोन्तःकरणं स्पृशति सति

तत्किं श्रेयो: वर्तते । यत्श्रेय:कल्याणं हेमाभासादिष्वयमेव अहरह: प्रतिदिनं मां न अभ्युपैति मां न प्राप्नोति अपितु अभ्युपैति इत्यर्थ: ।। ७ ।।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (यात्रया) विहार के द्वारा (त्रिलोकीम्) तीनों लोकों को (पुनत:) पवित्र करने वाले (ते) आपके (पादन्यासादपि) चरणों के रखने मात्र से ही जब (पद्म) कमल (हेमाभास:) सुवर्ण-सी कान्ति वाला (सुरभि:) सुगन्धित (च) और (श्रीनिवास:) लक्ष्मी का गृह-शोभा का स्थान हो जाता है । तब (हे भगवन् !) हे स्वामिन् ! (त्वयि) आपके (मे) मेरे (अशेषम्) समस्त (मन:) मन को (सर्वाङ्गेण) सर्व अङ्गों के द्वारा (स्पृशतिसति) स्पर्श करने पर (तत्) वह (किंश्रेय: ?) कौन-सा कल्याण है ? (यत्) जो (माम्) मुझे (अहरह:) प्रतिदिन (स्वयं) अपने आप (न अभ्युपैति) प्राप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—सकल परमात्मा अर्हंत जब जीवन्मुक्तरूप सयोगकेवली अवस्था में विहार करते हैं तब उनके विहार से तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं; और देव गण उनके पवित्र चरणों के नीचे कमलों की रचना कर दिया करते हैं और वे कमल जब जिनेन्द्र-देव के चरणों के स्पर्श से सुवर्ण-सी कान्ति वाले सुगन्धित एवं लक्ष्मी के निवास बन जाते हैं । तब मेरा मन आपको सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श कर रहा है अर्थात् मेरे मन-मन्दिर में चैतन्य जिन प्रतिमा का सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श हो रहा है । अतएव मुझे कल्याणकों का प्राप्त होना उचित ही है । जो भव्यप्राणी जिनेन्द्र भगवान् का निष्कपट रूप से भक्तिपूर्वक स्मरण, चिंतवन एवं ध्यान करता है उसे सर्व सुख प्राप्त होते ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।। ७ ।।

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं,
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम् ।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैक भूमिं,
क्रूराकारा: कथमिवरुजा कण्टका निर्लुठन्ति ।। ८ ।।

भवतज सुखपद बसे काममद सुभट सँहारे।
जो तुमको निरखंत सदा प्रियदास तिहारे॥
तुम वचनामृतपान भक्ति अंजुलिसों पीवै।
तिन्हें भयानक क्रूररोगरिपु कैसे छीवै॥८॥

टीका—भो देव ! रुजा कंटका: गदलक्षणा कंटका: पुरुषं कथमिव निर्लुठन्ति पीडयन्ति। न निर्लुठन्तीत्यर्थ:। रुजा एवं कंटका: 'रुग्‌रुजा चोपजाता थे रोगव्याधिगदामया: इति हलायुध:। कथंभूतं पुरुषं त्वां परमेश्वरं पश्यन्तं विलोकयन्तं। पुन: त्वद्वचनममृतं भक्ति पात्र्या पिबन्तं तव वाक्यामृतं तव वचनं भक्तिरेव पात्री स्थाली भक्ति पात्री तथा पुन: कर्मारण्यादसमानन्दधाम प्रविष्टं। कर्मैव अरण्यं वनं कर्मारण्यं तस्मात्। असमं अतुल्यं यत् आनन्दधामहर्षमन्दिरं तत्र प्रविष्टस्तं। कथंभूतं ? त्वां दुर्वार। यो हि स्मर: कामस्तस्य मदान् हरति तं। कीदृशं पुरुषं तवप्रसादास्त्वत्प्रसाद: त्वत्प्रसाद एव एका अद्वितीया: भूमिर्यस्य स तं। कीदृशा: रुजा रोगा एव कण्टका: क्रूराकार: क्रूरा: कठिना: आकारा येषां ते॥८॥

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (कर्मारण्यात्) कर्मरूपी वन से (असमानन्दधामप्रविष्टम्) अनुपम सुख के स्थान मोक्ष में प्रविष्ट हुए तथा (दुर्वारस्मरमदहरं) दुर्जय कामदेव के मदको हरण करने वाले आपको (पश्यन्तम्) देखने वाले और (भक्तिपात्र्या) भक्तिरूपी कटोरोंसे (त्वद्वचनममृतम्) आपके वचनरूपी अमृत को पीने वाले अतएव (त्वत्प्रसादैकभूमिम्) आपकी प्रसन्नता के स्थानभूत पुरुषको (क्रूराकारा:) भयंकर आकार वाले (रुजा-कण्टका:) रोगरूपी काँटे (कथमिव?) किस तरह (निर्लुठन्ति) सता सकते हैं—पीड़ा दे सकते हैं ? अर्थात् नहीं दे सकते।

भावार्थ—हे भगवन् ! कर्मरूपी वन से निकल कर आपने अनुपम अनंत सुखस्वरूप आनन्दधाम को प्राप्त किया है तथा आप दुर्जय कामदेवके मदको हरण करने वाले हैं आपको देखने

वाले और भक्तिरूपी पात्र से आपके अमृतरूपी वचनों को पीने वाले भव्य पुरुषों को फिर क्रूर आकार वाले रोगरूपीमयी काँटे कैसे पीड़ा दे सकते हैं ? अर्थात् नहीं दे सकते ॥ ८ ॥

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः ।
दृष्टिं प्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥ ९ ॥

मानथंभ पाषान आन पाषान पटंतर ।
ऐसे और अनेक रतन दीखैं जग अंतर ॥
देखत दृष्टि प्रमान मान मद तुरत मिटावै ।
जो तुम निकट न होय शक्ति यह क्योंकर आवै ॥ ९ ॥

टीका—मानस्तम्भः पाषाणात्मासन् तदितरसमः अन्य पाषाण सदृशो भवति, तस्मात् पाषाणात् इतरस्तेन समः । च पुनः केवलं रत्नमूर्तिः रत्नमयः परं केवलं रत्नवर्गः रत्नराशिस्तादृशो वर्तते स मानस्तम्भः ! दृष्टि प्राप्तः दृष्टिं सन् दर्शनमात्रादेव नाराणां लोकानां मानरोगं अहंकाररोगं कथं हरति ? केन प्रकारेण निराकरोति ? यदि चेत् तस्य मानस्तम्भस्य भवतः परमेश्वरस्य प्रत्यासत्ति । सामीप्यम् न भवेत् । दृष्टिप्राप्तः दृष्टिप्राप्तः मान एव रोगो मानरोगस्तं । कीदृशस्य भवतः तस्य मानस्तम्भस्य मानरोगहरणे शक्तिः तस्या हेतुः कारणं तस्य ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—हे देव ! (पाषाणात्मा) पत्थररूप (मानस्तम्भः) मानस्तम्भ (तदित-रसमः) दूसरे पत्थरों के समान ही है (केवलम्) सिर्फ (रत्नमूर्तिः) रत्नमयी है परन्तु (परःरत्नवर्गः) दूसरे रत्नों का समूह वैसा ही है—ऐसा होने पर (यदि) यदि (तस्य) उस मानस्तम्भ की (तच्छक्तिहेतुः) वैसी शक्ति में कारणस्वरूप (भवतः) आपकी (प्रत्यासत्तिः) निकटता न होती तो (सः) वह मानस्तम्भ (दृष्टिंप्राप्तः) देखने मात्र से ही

(नराणाम्) मनुष्यों के (मानरोगं) मान—अहंकाररूपी रोग को (कथं हरति ?) कैसे हर सकता है ? अर्थात् नहीं हर सकता ।

भावार्थ---पत्थर का बना हुआ मानस्तम्भ भी दूसरे साधारण पत्थरोंके समान ही है । रत्नमय होना उसकी कोई विशेषता नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसके समान और भी रत्न होते हैं परन्तु उसमें मानहरण करने की शक्ति नहीं होती, इस कारण से मानस्तम्भ में मनुष्यों के मान हरण की शक्तिका अस्तित्व मालूम नहीं होता । अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी ऐसी शक्ति में आपकी समीपता ही कारण है । यदि आपकी समीपता न होती तो गौतम जैसे महामानी विद्वानों का अभिमान कैसे दूर होता ? इस कारण उस रत्नमयी मानस्तम्भ में यह अपूर्वशक्ति आपके प्रसाद से ही प्राप्त हुई जान पड़ती है ।। ९ ।।

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्ति शैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजा धूलिबन्धं धुनोति ।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ।।१०।।

प्रभुतन पर्वतपरस पवन उरमें निवहै है ।
तासों ततछिन सकल रोगरज बाहिर ह्वै है ।।
जाके ध्यानाहूत बसो उर अंबुज माहीं ।
कौन जगत उपकार करन समरथ सो नाहीं ।। १० ।।

टीका—हे देव ! भवन्मूर्तिशैलोपवाही मरुदपि वायुरपि हृद्यः अनुकूलः प्राप्तः सन् पुंसांजनानां सद्यस्तत्कालं निरवधिरुजा धूलिबंधं निमर्यादं रेणुसमूहं धुनोति स्फोटयति । भवतः मूर्ति शरीरं सैव शैलः पर्वतस्तं उपवहतीति निरवधयः मर्यादारहिताः या रुजाः रोगास्तएव धूलयस्तासांबन्धःसमूहस्तं । तु पुनस्त्वं ध्यानाहूतः सन् यस्य प्राणिनो हृदयकमल प्रविष्टः तस्य प्राणिनः इह भुवने कः लोकोपकारः अशक्यो भवति । अपि तु न कोपीत्यर्थः । ध्यानेन आहूतः आकारितः

ध्यानाहूतः । हृदयमेव कमलं, हृदयकमलं, लोकानां उपहारः लोकोपकारः ।। १० ।।

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! जब (भवन्मूर्तिशैलोपवाही) आपके शरीररूपी पर्वतके पास से बहने वाली (हृद्यः) मनोहर (मरुद्अपि) हवा भी (प्राप्तः) [सन्] प्राप्त होती हुई (पुंसां) पुरुषों के (निरबाधिरुजां धूलिबन्धम्) मर्यादारहित रोगरूपी धूली के संसर्गको (सद्यः) शीघ्रही (धुनोति) दूर कर देती है । (तु) तब (ध्यानाहूतः) ध्यान के द्वारा बुलाये गये (त्वम्) आप (यस्य) जिसके (हृदयकमलं) हृदयरूपी कमल में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुए हैं (तस्य) उस पुरुष को (इहभुवने) इस संसार में (कः) कौनसा (लोकोपकारः) लोगों का उपकार (अशक्यः) अशक्य है—नहीं करने योग्य है अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जबकि आपके शरीर के पाससे बहने वाली वायु भी, लोगों के तरह-तरह के रोग दूर कर देती है । तब आप जिस भव्यपुरुष के हृदय में विराजमान हो जाते हैं वह संसार के प्राणियों का कौन-सा उपकार नहीं कर सकता—अर्थात् लोक की सच्ची—सजीव सेवा करना अथवा आहार-पान, औषधादि के द्वारा दीन-दुःखियों की सेवा कर उन्हें दुःख से उन्मुक्त करना तो सरल है । परन्तु जब कोई भद्रमानव जिनेन्द्र भगवान् को अपने हृदयवर्ती बना लेता है अर्थात् चैतन्य जिन प्रतिमा को अपने हृदयकमल में अंकित कर लेता है, (और स्तुतिपूजा-ध्यानादि के द्वारा उनके पवित्र गुणों का स्तवन-पूजन-वंदनादि किया करता है, एवं उनके नक्शे कदम पर चलकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने लगता है तब उस भव्य पुरुष के अनादिकालीन कर्मबंधन भी उसी तरह शिथिल होने लगते हैं जिस तरह चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने पर सर्पों के बन्धन ढीले पड़कर नीचे खिसकने लगते हैं ।)

जानासि त्वं मम भव भवे यच्च यादृक्च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि ।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ।।११।।

जनम जनम के दुःख सहे सब ते तुम जानो ।
याद किये मुझ हिये लगें आयुध से मानों ।।
तुम दयाल जग पाल स्वामि मैं शरण गही है ।
जो कुछ करनी होय करो परमान वही है ।। ११ ।।

टीका—हे देव ! मम भव भवे प्रतिजन्मनि यच्च यादृक् च दुःखं नरकतिर्यकनरदेवयोः संभवं जातं प्राप्तं । यस्य दुःखस्य स्मरणमपि मे मम शस्त्रवत् खड्गवत् निष्पिनष्टि चूर्णयति शतखंडी करोति । अत्र हिंसार्थधातुयोगात्, द्वितीयार्थे षष्ठी । तत्त्वं जानासि–वेत्सि । हे नाथ ! त्वं सर्वेषां प्राणिनामीशः स्वामी । च पुनः त्वं सकृप इति । किं कृपया सहवर्तमानः इति, अगाध मनस्यालोच्य त्वां त्रैलोक्यनाथं भक्त्या कृत्वा अहं उपेतोस्मि प्राप्तोस्मि अगाधंभावः । तत्तस्मात्कारणात् इह तल्लक्षणे विषये यत्कर्तुयोग्यं कर्तव्यं देवः त्वमेव प्रमाणं निश्चयः अन्यथा न ।। ११ ।।

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे भगवन् ! (मम) मुझे (भवभवे) प्रत्येक पर्यायमें (यत् च यादृक् च) जो और जैसा—जिस तरह का (दुःखम्) दुःख कष्ट (जातम्) प्राप्त हुआ है (तत् त्वं जानासि) उसको आप जानते ही हैं । और (यस्य) जिसका (स्मरणमपि) स्मरण भी (मे) मेरे लिये (शस्त्रवत्) शस्त्र के समान—तलवार आदि अस्त्र के घात समान (निष्पिनष्टि) दुःख देता हुआ और हे नाथ ! (त्वम्) आप (सर्वेशः) सबके स्वामी (च) और (सकृपः) दया से युक्त हैं—दयालु हैं । (इति) इसलिये (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (त्वाम् उपेतः अस्मि) आप के पास आया हूँ—आपकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ । अतः अब (इह

विषये) इस विषय में (यत्कर्तव्यं) जो करना चाहिये उसमें (देव एव प्रमाणम्) आप ही प्रमाण हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस चतुर्गतिरूप संसार में अनादि-काल से भ्रमण करते हुए मैंने जो घोर दुःख भोगे हैं और भोग रहा हूँ । जिनका स्मरण करना भी शस्त्र घात के समान दुःखदाई है । उनको आप अच्छी तरह से जानते ही हैं । आप सिर्फ जानते ही नहीं हैं किन्तु सब के अकारण बन्धु और दयालु हैं । इसीलिये मैं भक्तिपूर्वक आपकी शरण में आया हूँ । ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए, यह आप ही समझ सकते हैं । मैंने अपनी दशा आपके सामने प्रकट करा दी है ।

प्रापद्दैवं तवनुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपिसौख्यं ।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं,
जल्पन् जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ।।१२।।

मरण समय तुम नाम मंत्र जीवकतैं पायो ।
पापाचारी श्वान प्रान तज अमर कहायो ।।
जो मणिमाला लेय जपै तुम नाम निरंतर ।
इन्द्र सम्पदा लहै कौन संशय इस अन्तर ।। १२ ।।

टीका—भो विभो ! तव परमेश्वरस्य नुतिपदैः स्तोत्रपदैः कृत्वा सारमेयोऽपि कुक्करोऽपि दैवं सौख्यं प्रापत् प्राप्तवान्, देवस्येदं दैवं । कथंभूतैः तव नुतिपदैः । मरण समये—मरणावस्थायां जीवकेन क्षत्रिय-वंशचूडामणि श्री सत्यंधर महाराज पुत्रेण उपदिष्टैः कर्णे जपीकृतैः । कथंभूता सारमेयः पापाचारी आजन्म पापमेवाचरतीत्येवंशील: पापा-चारी । भो देव ! यस्त्वन्नमस्कारचक्रं अमलैः मणिभिः जाप्यैः जल्पन् सन् शुद्धस्फटिकमणिमुक्ताफलरजतसुवर्णप्रबालचंदनागुरुसंभवमणिभिः तव नमस्कारमंत्रं समभिजल्पन् वासवश्रीप्रभुत्वंसौधर्मादिलक्ष्मी-साम्राज्यं उपलभते प्राप्नोति । अत्र कः सन्देहः किमाश्चर्यमत्र ।

तवनमस्कारास्त्वन्नमस्कारास्तेषां चक्रं वासव इन्द्र श्री: लक्ष्मी: तस्या: प्रभुत्वमैश्वर्यम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब कि (मरण समये) मृत्यु के समय में (जीवकेन) जीवन्धरकुमारके द्वारा (क्षत्रियवंश चूड़ामणि सत्यंधर राजा के पुत्र जीवंधर कुमार के द्वारा) (उपदिष्टै:) बताये गये (तव) आपके (नुतिपदै:) नमस्कार मंत्र के पदों के स्मरण एवं चिन्तन से (पापाचारी) पापरूप प्रवृत्ति करने वाला (सारमेय: अपि) कुत्ता भी (देवं) देव—स्वर्गलोक सम्बन्धी (सौख्यम्) सुखको (प्रापत्) प्राप्त हुआ है तब (अमलै:) निर्मल (जाप्यै:) जपने योग्य माला को (मणिभि:) मनकाओं के द्वारा (त्वन्नमकारचक्रम्) आपके नमस्कार मंत्र को (जल्पन्) जपता हुआ मनुष्य (यत्) जो (वासवश्रीप्रभुत्वम्) इन्द्रकी विभूति के अधिपतित्व को—स्वामी पने को (लभते) प्राप्त होता है । इस विषय में (क: सन्देह:) क्या सन्देह है ? अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—जबकि एक पापी कुत्ता भी मृत्यु के समय न कि जीवनभर जीवन्धर कुमार द्वारा बताए हुए मंत्राऽक्षरों के ध्यान से यक्षोंका स्वामी यक्षेन्द्र हो सकता है तब निर्मल मणियों के द्वारा आपके नमस्कारमंत्र का ध्यान करने वाला भद्र मानव यदि इन्द्रकी विभूति को प्राप्त कर ले तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं ॥ १२ ॥

---

* इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—एक बार एक कुत्ते ने ब्राह्मणों की हवन की सामग्री को दूषित कर दिया था, जिससे उन्होंने कुपित हो कर उस कुत्ते को मार डाला। जब वह शस्त्र-घात से सिसकता और छटपटा रहा था और अपने जीवन की अन्तिम साँसें ले रहा था । इतने में क्षत्रिय वंश कुलतिलक जीवंधरकुमार ने उस कुत्ते को तड़पता हुआ देख कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र पढ़कर सुनाया, जिससे उसके परिणामों में परम शांति हुई और वह कुत्ता मर कर इस मंत्र के प्रभाव एवं माहात्म्य से यक्षोंका अधिपति यक्षेन्द्र हुआ ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखा वञ्चिका कुञ्चिकेयम् ।
शक्योद्धाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ।।१३।।

जो नर निर्मल ज्ञान मान शुचि चारित साधै।
अनवधि सुखकी सार भक्ति कूँची नहिं लाधै।।
सो शिव वाँछक पुरुष मोक्षपट केम उघारै।
मोह मुहर दिढ़ करी मोक्ष मंदिर के द्वारै।। १३ ।।

टीका—भो देव ! शुद्धे ज्ञाने शुचिनि-निरतिचारे-पवित्रे चरिते आचरणे सत्यपि चेद्यपि त्वयि परमेश्वरे इयं अनीचा प्रबला भक्तिर्नो नैव, हि निश्चितं तर्हि मुक्तिकामस्य पुंसः मुमुक्षोः पुरुषस्य मुक्तेः द्वारं शक्योद्धाटं कथं भवति ? शक्यः उद्धाटोयस्यतत् ! मुक्तिं कामयतीति मुक्तिकामः तस्य मुक्ति कामस्य ! कथम्भूतं मुक्तेर्द्वारं ? परिदृढा निश्चला महामोहो मिथ्यात्वं तल्लक्षणमुद्रा ययोस्तौ एवं विधौकपाटौ स एव कवाटं यस्मिन् तत् । कथंभूता भक्तिः ? कुंचिका । मुद्रा द्विधाकर्त्री पुनः अनवधि निर्मर्यादं यत् सुख तस्य अवंचिका-अप्रतारिणी ।। १३ ।।

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (शुद्धे ज्ञाने) शुद्ध ज्ञान और (शुचिनिचरिते) निर्मल चारित्र के (सत्यपि) रहते हुए भी (चेत्) यदि (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (इयम्) यह (अनीचा भक्ति) उत्कृष्ट भक्ति-रूपी (अनवधिसुखावञ्चिका) अमर्यादित सुखों की कारण (कुञ्चिका) कुञ्जी-ताली (नो चेत्) नहीं होवे, तो (हि) सचमुच में (मुक्तिकामस्य पुंसः) मोक्ष के अभिलाषी पुरुष को (परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्) अत्यन्त मजबूत महामोहरूपी मुहरबन्द (ताले) से युक्त हैं किवाड़ जिसमें ऐसे (मुक्तिद्वारम्) मोक्षके द्वार को (कथम् ?) किस तरह (शक्योद्धाटम्) खोला जा सकता है ? अर्थात् नहीं खोला जा सकता ।

भावार्थ—विशुद्धज्ञान और निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि जिनेन्द्र की भक्तिमय अथवा सम्यग्दर्शनरूप-कुञ्जी नहीं है तो फिर महा मिथ्यात्वरूप मुद्रा से अंकित मोक्षमन्दिर का द्वार कैसे खोला जा सकता है? अर्थात् भक्तिरूपी कुंचिका के बिना मुक्तिद्वार का खुलना नितान्त कठिन है। परन्तु जिस भद्र मानव के पास जिनेन्द्र की भक्तिरूपी अथवा सम्यग्दर्शनरूपी कुंजी है वह बहुत जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं। अतः मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को सबसे पहले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है ।। १३ ।।

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरंधकारैः समंता-
त्पंथामुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देवतत्त्वावभासी,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती रत्नदीपः ।।१४।।

शिवपुर केरो पंथ पापतमसों अति छायो।
दुखसरूप बहू कूप खांडसों बिकट बतायो।।
स्वामी सुखसों तहाँ कौन जन मारग लागैं।
प्रभु-प्रवचन मणि दीप जोतके आगैं आगैं।। १४ ।।

टीका—भो देव! खलु निश्चितं अयं मुक्तेः पंथाः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-लक्षणो मोक्षमार्गः अघमयैरंधकारैः मिथ्यात्वलक्षणैः स्तिमिरैः समंतात् सर्वतः प्रच्छन्नः आच्छादितः। पुनः मुक्तेः पथा अगाधेः अतुलस्पर्शैः क्लेशगर्तैर्नरकादि दुःखैः कृत्वा स्थपुटितपदः विद्यते। स्थपुटितानि उच्चनीचानि पदानि पादरोप्रणस्थानानि यस्मिन् सः। तत्तस्मात् कारणात् तेन दुरुत्तरेणमोक्षमार्गेण सुखतः सुखेनैव कः पुमान् व्रजति यातीतिभावः। कुतः यदि चेत् भवद्भारती रत्नदीपः तव दिव्यभाषाः अप्रतिहतरत्न प्रभादीपः अग्रे अग्रे न भवति। भवतो जिनेन्द्रस्य भारती भवद्भारती सेव रत्नदीपः भवद्भारतीरत्नदीपः।

कथम्भूतः भवद्भारतीरत्नदीपः ? तत्त्वैः सप्ततत्त्वैः अवभासतेऽसौ तत्त्वावभासी ।। १४ ।।

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! (खलु) निश्चय से (अयम्) यह (मुक्तेः) मोक्षका (पंथाः) मार्ग (अघमयैः) पापरूपी (अन्धकारैः) अन्धकार के द्वारा (समन्तात्) सब ओर से (प्रच्छन्नः) ढका हुआ है और (अगाधैः) गहरे (क्लेशगर्तैः) दुःखरूपी गड्ढों से (स्थपुटितपदः) विषम है—दुष्प्रवेश है ऐसी अवस्थाएँ (यदि) अगर (तत्त्वावभासी) सच्चाई जतलाने वाला अथवा सप्ततत्त्वों के द्वारा मोक्षमार्गका निरूपण करने वाला (भवद्भारतीरत्नदीपः) आपकी वाणीरूपी दीपक का प्रकाश (अग्रे-अग्रे) आगे-आगे (न भवति) न होता (तत्) तो (तेन) उस मार्ग से (कः) कौन मनुष्य (सुखतः) सुखपूर्वक (व्रजति) गमन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—हे देव ! मुक्ति का मार्ग मिथ्यात्वरूप अज्ञान अंधकार से व्याप्त है, आच्छादित है । और अगाध दुःखरूप गड्ढों से विषम है, दुष्प्रवेश है । ऐसा होने पर भी यदि सप्ततत्त्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला अथवा सप्त तत्त्वों के द्वारा मोक्ष-मार्गका निरूपण करने वाला आपकी पवित्र दिव्यध्वनि-रूप वाणीरूपी दीपक का प्रकाश आगे-आगे नहीं होता, तो ऐसा कौन पुरुष है जो आपकी वाणीरूपी दीपक के प्रकाश के बिना ही उस कंटकाकीर्ण विषम मार्ग से सुखपूर्वक गमन कर सकता है ? और अपने इष्टस्थान को सुगमता से प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है । अर्थात् कोई नहीं । अस्तु; हे नाथ ! आपकी पवित्र वाणीरूपी दीपक के प्रकाश से ही संसारी जीव हेयोपादेयरूप तत्त्वोंका परिज्ञान करते हैं और उसी के अनुकूल आचरण कर कर्म बन्धन से छूटने का उपाय करते हैं । अर्थात् मोक्ष के साथ सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं, उन्हें अपने जीवन में उतारते हैं । साथ ही, रत्नत्रय की पूर्णता एवं

परम प्रकर्षता से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का समूल नाशकर कृत-कृत्य अवस्था को प्राप्त करते हैं और अनंत काल तक उस आत्मोत्थ अव्याबाध निराकुल सुख का अनुभव करते रहते हैं। यह सब वीतराग भगवान् की उस दिव्यवाणी का ही माहात्म्य एवं प्रभाव है ।। १४ ।।

आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः
कर्मक्षोणी पटल पिहितो योऽनपवाप्यः परेषां ।
हस्ते कुर्वन्त्यनति चिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः
स्तोत्रैर्बंध प्रकृति परुषो द्दाम धात्री खनित्रैः ।।१५।।

कर्म पटल भूमाँहि दबी आतमनिधि भारी।
देखत अति सुख होय विमुखजन नाँहि उघारी ।।
तुम सेवक तत्काल ताहि निहचै कर धारै।
श्रुति कुदालसों खोद बंधभू कठिन विदारै ।। १५ ।।

टीका—हे देव ! यः आत्मज्योतिर्निधिः अनवधिर्वर्तते । आत्म-ज्योतिरेवनिधिः आत्मज्योतिर्निधिः । न विद्यते अवधिः मर्यादा यस्य सः लोकालोक व्यापक इत्यर्थः । कीदृशः आत्मज्योतिर्निधिः ? द्रष्टुः पुरुष-स्य आनन्दहेतुः पश्यतीति दृष्टा तस्य द्रष्टुः, आनन्दस्यहेतुः कारणं । पुनः कर्माण्येव क्षोणी पटलानि कर्मक्षोणिपटलानि तैः पिहितः आच्छादितः । पुनः परेषां प्राणिनां अनवाप्यः-अवाप्यतेऽसौ अवाप्यः न अवाप्यः अनवाप्यः । भो देव ! भवद्भक्तिभाजः पुमांसः तं आत्मज्योतिर्निधि स्तोत्रैः कृत्वा अनति चिरतः स्वकल्पकालेनेवहस्ते कुर्वन्ति भवतः परमेश्वरस्य भक्तिं भजते ते भक्तिभाजः । कथंभूतैः स्तोत्रः ? बंध प्रकृतयः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा बंधप्रकृतयः एव परुषाः कठिनाः उद्दामाः उत्कटाः या धरित्र्यः । खनित्राणि कुद्दालानि तैः स्तोत्रबंधप्रकृति-परुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ।। १५ ।।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (आत्मज्योतिर्निधिः) यह आत्म-ज्ञानरूप सम्पत्ति (कर्मक्षोणीपटल पिहितः) ज्ञानावरणादि

अष्टकर्मरूप पटलों से आच्छादित है—ढकी हुई है और (यः द्रष्टुः आनन्दहेतुः) जो ज्ञानी पुरुष को आनन्द का कारण है इसलिये (परेषां अनवाप्यः) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्त है उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती । किन्तु (भवद्भक्तिभाजः) आपकी भक्ति करने वाले भव्य पुरुष (तं) उस आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति को (बंध-प्रकृतिपरुषोद्दामधात्री खनित्रैः स्तोत्रैः) प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंधरूप अत्यन्त कठोर भूमि को खोदने के लिये कुदाली स्वरूप आपके स्तवनों के द्वारा (अनतिचिरतः) शीघ्र ही (हस्ते कुर्वन्ति) अपने हाथ में कर लेते हैं—उसे प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए धन को कुदाल से कठोर भूमि को खोद कर निकाल लेते हैं । ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप पुद्गल पिण्डों से आच्छादित अपनी ज्ञानादिरूप आत्मसम्पदा को आपके पवित्र स्तवनरूप कुदाल से कर्मबन्धनरूप अतिशय कठोर भूमि को खोद कर निकाल लेते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियों को वह नहीं प्राप्त होती ।। १५ ।।

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
यदिव त्वत्पदकमलयोः सङ्गता भक्ति गङ्गा ।
चेतस्तस्यां ममरुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः,
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेह भूमिः ।।१६।।

स्याद्वाद गिरि उपज मोक्ष सागर लौं धाई ।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति गंगा सुखदाई ।।
मोचित निर्मल थयो न्होन रुचि पूरब तामैं ।
सो वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं ।। १६ ।।

टीका—हे देव ! या प्रसिद्धाभक्ति गंगा भवद्भक्ति स्वर्धुनी नयहिमगिरेः स्याद्वादनय रूपहिम पर्वतात् प्रत्युत्पन्नाऽस्ति । नय एव हिमगिरिः हिमाचलस्तस्मात् भक्तिरेव गंगा भक्तिगंगा कथम्भूता गंगा । च

पुनः अमृताब्धेः मोक्षसागरस्य आयता मिलिता। च पुनः या गंगा त्वत्पदकमलयोः तवचरणकमलयोः संगता आश्रिता। तवपदकमले त्वत्पदकमले तयोः। तस्यां गंगायां ममचेतो ममान्तः करणंरुचिवशात् स्नेहयोगात् आलुप्तं स्नातमित्यर्थः। यदन्तः करणं क्षालितांहः भवति। इयं किं सन्देह भूमिः सन्देह स्थानं ? क्षालितं अहः कल्माषं पापरजो यस्य तत् सन्देहभूमिः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे नाथ ! (नयहिमगिरेः) स्याद्वाद-नयरूप हिमालय पर्वत से (प्रत्युत्पन्ना) उत्पन्न हुई (च) और (अमृताब्धः) मोक्षरूप समुद्र तक (आयता) लम्बी (या) जो यह (त्वत्पदकमलयोः) आपके चरणकमल सम्बन्धी (भक्ति-गङ्गा) भक्तिरूपी गंगानदी (सङ्गता) प्राप्त हुई है (तस्यां) उसमें (रुचिवशात्) प्रेमके वश (आप्लुतम्) डूबा हुआ (मम) मेरा—हमारा (चेतः) मन (यत्) जो (क्षालितांहः कल्माषं) जिसकी पापरूपी कालिमा धुल गई है ऐसा-पापरूपी रजसे रहित (भवति) हो जाता है। (देव !) हे नाथ (इयम्) यह (किम्) क्या कोई (सन्देहभूमिः) सन्देह का स्थान है ? अर्थात् नहीं।

भावार्थ—हे नाथ ! स्याद्वादनयरूप हिमालय से निकली और मोक्षरूपी समुद्र तक लम्बी यह आपकी भक्तिरूपी गंगा मुझे बड़े भारी भाग्योदय से प्राप्त हुई है, गंगा में स्नान करने से जिस तरह शरीर का बाह्य मैल धुल जाता है और वह स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार आपकी भक्तिरूपी गंगा में स्नान करने से उसमें गोता लगाने से यदि मेरे अन्तःकरण की पापरूप कालिमा धुल कर मेरा मन पवित्र राग-द्वेषादि विभावभावों से रहित निर्विकार हो जाय, तो इसमें क्या सन्देह है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १६ ॥

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपितनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवंति ॥१७॥

तुम शिवसुखमय प्रगट करत प्रभुचिंतन तेरो।
मैं भगवान समान भाव यों वरतै मेरो॥
यदपि झूठ है तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै।
तुम प्रसाद सकलंक जीव वांछित फल पावैं॥ १७॥

टीका—भो देव ! प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतं स्थिरपदसुखं मोक्षपदस्य सुखं यस्त (स तस्यामंत्रणे) प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं मे ममत्वयि विषये। स अहमेव इतिमतिः उत्पद्यते। कथम्भूतस्य मे ? त्वामनुध्यायतः अनुध्यायतीति अनुध्यायन् तस्य। कीदृशी मतिः ? निर्विकल्पा निःसन्देहा इत्यर्थः। विकल्पा निष्कान्तानिर्विकल्पा। तदपि चेत् इयं मतिः अभ्रेषरूपां तृप्तिं निश्चलरूपां तृप्तिं मिथ्यैव तनुते विस्तारयते। दोषात्मानोऽपि पुमांसः त्वत्प्रसादात् तवप्रसादातः अभिमतफलाः भवन्ति। अभिमतं फलं येषां ते॥ १७॥

अन्वयार्थ—(हे देव ! प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं !) प्रगट हुआ है मोक्ष का निश्चलसुख जिनको ऐसे (हे वीतरागदेव) (त्वामनुध्यायतः मे) आपका बार-बार ध्यान करते हुए मेरे हृदय में (त्वयि) आपमें अथवा आपके विषय में (अहं सः एव) जो आप हैं वही मैं हूँ (इति) ऐसी जो (निर्विकल्पा) विकल्प रहित (मतिः) बुद्धि (उत्पद्यते) उत्पन्न होती है यद्यपि (इयम् मिथ्या एव) यह बुद्धि असत्य ही है (तदपि) तो भी (अभ्रेषरूपां तृप्तिं) निश्चल अविनाशी सन्तोष सुख को (तनुते) विस्तृत करती है। सच है (त्वत्प्रसादात्) आपके प्रसाद से (दोषात्मानः अपि) सदोषी पुरुष भी (अभिमतफलाः भवन्ति) अभिमत फल को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जिनका आत्मा सदोषी है, पापकर्मरूप कालिमा से लिप्त है ऐसे मानव भी आपके प्रसाद से अभिमत फल को प्राप्त करते ही हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके पवित्र ज्ञानादि अनंत गुणों का ध्यान एवं चिन्तन करते-करते जो परमात्मा है सो मैं हूँ और जो मैं

हूँ, सो परमात्मा है जब ऐसी निर्विकल्पात्मक अभेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है सो यद्यपि यह मिथ्या है तो भी निश्चल आनन्द को प्रकट करती है। बहुत कहने से क्या लाभ, सदोषी पतितात्मा पुरुष भी आपके सामीप्य एवं प्रसाद से अभिमतफल को प्राप्त करते ही हैं।। १७ ।।

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभङ्गीतरङ्गै-
र्वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृता सेवया तृप्नुवन्ति ।।१८।।

वचन जलधि तुम देव सकल त्रिभुवन में व्यापै।
भंग तरंगिनि विकथ वाद मल मलिन उथापै।।
मन सुमेरु सों मथै ताहि जे सम्यग्ज्ञानी।
परमामृत सों तृषित होंहि ते चिरलौं प्रानी।। १८ ।।

टीका—हे देव ! यः ते तव वागम्भोधिः भवद्दिव्यध्वनिसागरः अखिलं भवनं पर्येति-व्याप्नोति ! वाक् एव अम्भोधिः वागम्भोधिः। कीदृशः वागम्भोधिः ? सप्तभंगीतरङ्गैः कृत्वा मिथ्यावादं मलं अपनुदत् स्फोटयन्। सप्तभंग्या एव तरंगाः सप्तभंगीतरङ्गैः तैः सप्तभंगीतरङ्गैः। विबुधा विबुधाजनाः सपदि शीघ्रं चेतसा एव अचलेन मनः एवं पर्वतेनकृत्वा तस्य वागम्भोधेः आवृत्तिं मंथनं व्यातन्वन्तः सन्तः सुचिरं चिरकालं अमृतसेवया तृप्नुवन्ति। अमृतं पीयूषं पक्षे मोक्षस्तत् आसेवया।। १८ ।।

अन्वयार्थ—हे स्वामिन् ! (सप्तभङ्गीतरङ्गैः) स्यादस्तिस्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सप्तभंगरूप लहरों के द्वारा (मिथ्यावादं-मलं) सर्वथा एकान्त कदाग्रहरूप-मिथ्यात्वमलको अथवा शरीरादि परवस्तु में आत्मत्वबुद्धि रूप विपरीताभिनिवेश के सम्बन्ध से होने वाले अतत्त्वश्रद्धानरूप

मिथ्यामलको (अपनुदन्) दूर करने वाला (ते) आपका (य:) जो (वागम्भोधि:) वचनरूपी समुद्र है सो (अखिलं भुवनं) समस्त संसार को (पर्येति) घेरे हुए है—समस्त संसार में व्याप्त हैं ।"

भावार्थ—हे नाथ ! सप्तभंगरूपतरंगों से अथवा अनेकान्त के माहात्म्य से शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मत्वरूपी जीव के विपरीताभिनिवेश को दूर करने वाले आपके वचन समुद्र का जो भव्य प्राणी निरन्तर अभ्यास-मनन एवं परिशीलन करता है अर्थात् आगमोक्त विधि से अभ्यास कर चित्त की निश्चलता रूप परम समाधि को प्राप्त करता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है और अनन्त काल तक यहाँ सुख में मग्न रहता है । यह सब आपके वचन समुद्रका ही माहात्म्य है ।। १८ ।।

आहार्येभ्य: स्पृहयति परं य: स्वभावादहृद्य:,
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्य: ।
सर्वांगेषु त्वमसि शुभगस्त्वं न शक्य: परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसुमै: किञ्च शस्त्रैरुदस्त्रै: ।। १९ ।।

जो कुदेव छवि हीन वसन भूषण अभिलाखैं ।
बैरी सों भयभीत होय सो आयुध राखैं ।।
तुम सुन्दर सर्वांग शत्रु समरथ नहिं कोई ।
भूषण वसन गदादि ग्रहण काहे को होहि ।। १९ ।।

---

* इस श्लोक में "आवृत्तिम्, विबुधा, अमलेन और अमृतसेवया" ये पद श्लिष्ट और द्वयर्थक हैं—दो अर्थ वाले हैं—इसलिये इस श्लोक के शेष के दो चरणों का अन्वयार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—(चेतसा एव अचलेन) मनरूपी पर्वत मन्दर गिरि के द्वारा (तस्य) उस वचनरूपी समुद्र का (आवृत्तिम्) मन्थन (व्यातन्वन्त:) करनेवाले (विबुधा:) देवगण (सपदि) शीघ्र ही (अमृतसेवया) अमृत के सेवन से (सुचिरं) चिरकाल तक (तृप्नुवन्ति) सन्तुष्ट हो जाते हैं।
भावार्थ—कवि सम्प्रदाय में ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार देवों ने मिलकर मंदर पर्वत के द्वारा समुद्र का मंथन किया था जिसमें उससे अन्य वस्तुओं के साथ अमृत भी निकाला गया था, देवगण उसी अमृत को पीकर अमर हुए हैं।

टीका—भो देव ! यः कश्चित् परोदेवः स्वभावात् निसर्गेण अहृद्यः अमनोज्ञः कुरूपः स आहार्य्येभ्यः शृंगारेभ्यः स्पृहयति वांछति नान्यः, च पुनः भो देव ! यः कश्चित् वैरिणा शक्यो भवति स पुमान् सततं निरंतर शस्त्रग्राही भवति । शस्त्राणि गृह्णातीति शस्त्रग्राही । नान्यः । हे देव ! त्वं सर्वांगेण सुभगः असि । सर्वशरीरेण सुन्दरोऽसि । पुनः त्वं वैरिणां शक्योपि न । परेणां बाह्यांतर वैरिणां कदापि जेतुं न शक्यः । तत्र तस्मात् कारणात् स्वभावसौन्दर्यालंकृतस्य तव भूषा वसन कुसुमैः किं प्रयोजनं ? शृंगार पट्टकूलमाल्यादिभिः किंनिमित्तं ? भूषाश्च वसनानि च कुसमानि च तैः भूषावसनकुसुमैः । च पुनः निर्वैरिणस्तव उदस्त्रैः शस्त्रैः किं प्रयोजनं ? अपि तु न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।। १९ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यः) जो (स्वभावात्) स्वभाव से (अहृद्यः स्यात्) अमनोज्ञ—कुरूप होता है (स एव) वह ही (आहार्य्येभ्यः) वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की (स्पृहयति) इच्छा करता है । (च) और (यः) जो (वैरिणा) शत्रु के द्वारा (शक्यः) जीतने योग्य होता है वही (शस्त्रग्राही भवति) शस्त्रों को ग्रहण करने वाला होता है—उसे ही त्रिशूल-गदा-भाला-बरछी-तलवार आदि शस्त्रों की आवश्यकता होती है किन्तु हे भगवन् ! (त्वम्) आप (सर्वाङ्गेषु सुभगः असिः) सर्वांग रूप से सुन्दर हो, और (त्वं परेषां न शक्यः) तुम्हें शत्रु भी नहीं जीत सकते (तत्) इस कारण (तव) आपको (भूषावसन कुसुमैः) आभूषण—वस्त्र और फूलों से—विविध आभूषणों, सुन्दर वस्त्रों और मनोज्ञ सुगन्धित पुष्पों से (च) और (उदस्त्रैः अस्त्रैः) पैने—तीक्ष्ण धार वाले नुकीले हथियारों से (किं) क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—आचार्य वादिराज ने इस श्लोक में सच्चे देवका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हुए जिनेन्द्रदेव की अन्य हरिहरादिक देवों से सर्वोत्कृष्टता प्रकट की है, उन्हें ही निर्दोष और वास्तविक देव बताया है, क्योंकि संसार में बहुत से जीव अपनी अज्ञता वश

देवत्वविहीन पुरुषों में भी देवकी कल्पना कर लेते हैं। जिनका चित्त राग-द्वेष से मलिन है, दूषित है—जो स्वभाव से ही कांतिहीन एवं अमनोज्ञ हैं। और अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित हैं अथवा बहुमूल्य वस्त्राभूषण और स्त्री, गदा आदि अस्त्रों (हथियारों) से जिनकी पहिचान होती है। जो नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत करने की इच्छा करते हैं। जिन्हें शत्रुओं से सदा भय बना रहता है अतएव गदा, त्रिशूल आदि अस्त्रों को धारण किये हुए हैं, जैनधर्म ऐसे भेषी-रागी-द्वेषी पुरुषों को देव नहीं कहता, और न उनमें देवत्व का वास्तविक लक्षण ही घटित होता है। परन्तु जिनेन्द्र भगवान् स्वभाव से ही मनोज्ञ हैं—कान्तिवान् हैं। अतः वे कृत्रिम वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत नहीं करते हैं। उन्होंने देह-भोगों का खुशी-खुशी त्याग किया है और मोह शत्रु पर विजय प्राप्त की है। इसके सिवाय, उन्हें किसी शत्रु आदि का कोई भय नहीं है और न संसार में उनका कोई शत्रु, मित्र ही है, वे सबको समानदृष्टि से देखते हैं, चाहे पूजक और निंदक कोई भी क्यों न हो, किसी से भी उनका राग-द्वेष नहीं है। उनके आत्मतेज या तपश्चरण विशेष की सामर्थ्य से कट्टर वैरी भी अपने वैर-विरोध को छोड़कर शान्त हो जाते हैं। अतः ऐसे पूर्ण अहिंसक, परम वीतराग और क्षीणमोही परमात्मा को सुन्दर वस्त्राभूषणों और अस्त्र-शस्त्रों से क्या प्रयोजन हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १९ ॥

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यता-मातनोति।
त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभुरिति तवश्लाघ्यतेस्तोत्रमित्थम् ॥२०॥

सुरपति सेवा करै कहा प्रभु प्रभुता तेरी।
सो सलाघनाल है मिटै जगसौं जग फेरी॥
तुम भवजलधि जिहाज तोहि शिवकंत उचरिए।
तुही जगत जन पालनाथ थुति की थुति करिए॥ २०॥

टीका—भो देव ! इन्द्रः तव भगवतः सेवां सुकुरुतां तया सेवया ते तव किं श्लाघनं प्रशंसनं अपितु न। तस्येन्द्रस्य इयमेव सेवा श्लाघ्यतां प्रशंसतां आतनोति विस्तारयति। कथंभूतेयं (सेवा ?) भवलयकरी भवः संसारस्तस्यलयो नाशस्तं करोति। भो देव ! इतिकारणात् तव स्तोत्रम् इत्थं श्लाघ्यते। इतीति किं यतः कारणात् त्वं जननजलधेः संसारसमुद्रात् निस्तारीं वर्तसे च पुनः त्वं सिद्धिकान्तापतिः, त्वं लोकानां प्रभुः, जननमेवजलधिः तस्मात्, सिद्धिकांतायाः पतिः सिद्धिकांता-पतिः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (इन्द्रः) इन्द्र देवराज (तव) तुम्हारी—आपकी (सेवाम्) पूजा-स्तुति-वंदना आदि सेवा को (सुकुरुताम्) अच्छी तरह से करे, परन्तु (तया) उसके द्वारा (ते) आपकी (किंश्लाघनं) क्या प्रशंसा है ? किन्तु (भवलयकरी) संसार परिभ्रमण का नाश करने वाली (इयम्) यह सेवा तो (तस्य एव) उस इन्द्र की ही (श्लाघ्यताम्) प्रशंसाको (आतनोति) विस्तृत करती है—बढ़ाती है। किन्तु (त्वं) आप (जननजलधेः) संसारसमुद्र से (निस्तारी) तरने और तारने वाले हैं, तथा (त्वं) आप (सिद्धिकान्तापतिः) मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं और (त्वं) आप (लोकानां प्रभुः) संसार के समस्त प्राणियों के पति हैं (इत्थम्) इस तरह से (तव) आपका यह (स्तोत्रम्) स्तोत्र-स्तवन (श्लाघ्यते) प्रशंसित किया जा सकता है।

भावार्थ—हे नाथ ! इन्द्र आपकी सेवा, वन्दना, पूजा, स्तुति आदि करता है, केवल इसीसे आपकी कोई महत्ता और प्रशंसा नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्र तो आपकी समीचीन भक्ति एवं स्तुति, पूजादि से महान् पुण्य का संचय करता है, और वह भक्ति उसके लिये भवलयकरी संसार का नाश करने वाली होती है। इसी से वह एक भवावतारी हो जाता है अर्थात् मनुष्य का एक भव धारण करके ही मोक्ष चला जाता है। परन्तु आप संसार-समुद्र से

स्वयं तरने और तारने वाले हैं और मुक्तिरूप लक्ष्मी के अधिपति हैं तथा संसार के समस्त जीवों के अकारण बन्धु हैं—उन्हें संसार के दुःखों से छुटाने वाले हैं और हेयोपादेय रूप तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं इसलिये आप उनके प्रभु हैं, आपने जिस उच्च आदर्श को प्राप्त किया है वही संसारी जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है, इन्हीं सब कारणों से आपकी महत्ता एवं प्रभुता संसार में प्रकट होती है ।। २० ।।

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येनतुल्य-
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततः त्वय्यमी न क्रमन्ते ।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन् भक्तिपीयूषपुष्टा-
स्तेभव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति ।।२१।।

वचन जाल जड़रूप आज चिन्मूरति झाँई ।
तातैं थुति आलाप नाहि पहुँचे तुम ताँई ।।
तो भी निष्फल नाँहि भक्तिरस भीने वायक
संतन को सुरतरु समान वांछित वर दायक ।। २१ ।।

टीका—भो भगवन् ! वाचांवृत्तिर्वाग्विलासः अपर सदृश (अपरेणसदृशी अपरसदृशी) त्वम् अनुपमानः । त्वं देवः अन्येन न तुल्योऽसि, अनुपमोऽसि । ततस्तस्मात्कारणात् नोऽस्माकं अमीस्तुत्युद्गाराः त्वयि विषये कथमिव क्रमन्ते । अस्माकं स्तुतिविलासा कथमिव तुभ्यं रोचंते । एवं यद्यपि वर्तते, तदपि एवं मा अभूवन् । ते भक्तिपीयूषपुष्टाः स्तुत्युद्गाराः भव्यानां अभिमतफलाः पारिजाताः मनोऽभीष्टफलाः कल्पवृक्षाः भवन्ति । भक्तिरेव पीयूषं भक्ति पीयूषं तेन पुष्टाः अभिमतं फलं येषां ते ।। २१ ।।

अन्वयार्थ—(भगवन् !) हे स्वामिन् ! (वाचांवृत्तिः) हमारे वचनों की प्रवृत्ति (अपरसदृशी) दूसरे अल्पज्ञ मनुष्यों के समान है—जैसे अन्य अल्पज्ञ मनुष्यों की वाणी होती है वैसी ही हमारी भी है, परन्तु (त्वं) आप (अन्येन न तुल्यः) दूसरे पुरुषों के

समान नहीं हो, इसीलिये आप की तुलना अन्य संसारी अल्पज्ञ प्राणियों के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि आप अनुपम हैं। (ततः) इसलिये (नः) हमारे अभी (स्तुस्युद्‌गाराः) ये स्तुति-रूपी उद्‌गार (त्वयि) आप तक (कथमिव) किस तरह (क्रमन्ते) पहुँच सकते हैं—प्राप्त हो सकते हैं अथवा (एवं मा अभूवतन्) ऐसे मत हो—अर्थात् हमारे वचन आप तक न भी पहुँचे (तदपि) तो भी (भक्तिपीयूषपुष्टाः) भक्तिरूपी अमृत से परिपुष्ट हुए (ते) वे स्तुतिरूप उद्‌गार (भव्यानाम्) भव्यजीवों के लिये (अभिमतफलाः) इच्छित फल देने वाले (पारिजाताः) कल्पवृक्ष (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! हमारे वचनों की प्रवृत्ति अन्य अल्पज्ञ जीवों के समान ही है। परन्तु आप राग-द्वेषादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं अतः आपकी तुलना अन्य अल्पज्ञ संसारी जीवों से नहीं की जा सकती है, क्योंकि आप सच्चिदानन्द, परमब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि हमारे स्तुतिरूपी उद्‌गार आपके समीप तक नहीं पहुँचते हैं, तो भी आपकी समीचीन भक्तिरूप-अमृत से पुष्ट हुए ये स्तुतिरूप उद्‌गार भव्य जीवों के लिये कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल के देने वाले होते हैं।। २१ ।।

कोपावेशो न तव क्वापि देव प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं संन्निधिर्वैरहारि,
क्वैवंभूतं भुवनतिलकं प्राभवं त्वत्परेषु।।२२।।

कोप कभी नहीं करो प्रीति कबहूँ नहिं धारो।
अति उदास बेचाह चित्त जिनराज तिहारो।।
तदपि जान जग बहै बैर तुम निकट न लहिए।
यह प्रभुता जगतिलक कहाँ तुम बिन सरदहिये।। २२ ।।

टीका—हे देव ! तव परमेश्वरस्य क्वापि कोपावेशो न,

क्रोधप्रवेशो न वर्तते । कोपस्य आवेशः कोपावेशः । भो देव ! क्वापि प्रसादो न, प्रसन्नतापि न । हि निश्चितं तव चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं । परमा चासौ उपेक्षाबुद्धिश्च परमोपेक्षा तया परमोपेक्षया इत्थम्भूतं चेतः ? न विद्यते अपेक्षा वांछा यस्य तत् । एवं यद्यप्यस्ति तदपि भुवनं आज्ञावश्यं विद्यते । आज्ञयैव वश्य आज्ञावश्यं । यद्यपि तव क्वापि प्रसादो न, तदपि तव सन्निधिर्वैरहारी वर्तते । भो भुवनतिलक ! एवम्भूतं प्राभवं त्वत्परेषु हरिहरादिषु देवेषु प्राभवं प्रभुत्वं क्वास्ति ? न क्वाप्यतीत्यर्थः । भुवनस्य तिलकः भुवनतिलकस्तस्यामंत्रणे हे भुवन तिलक ! त्वत्तः परे त्वत्परे तेषु त्वत्परेषु ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे नाथ ! (तव) आपका (क्वापि) किसी पर भी (कोपावेशः) क्रोध भाव (न अस्ति) नहीं है और (न तव) न आपकी (क्वापि) किसी पर प्रसादो प्रसन्नता है (हि) निश्चय से (अनपेक्षम्) स्वार्थ रहित (तव) आपका (चेतः) मन (परमोपेक्षया एव) अत्यन्त उदासीनता से (व्याप्तं) व्याप्त है (तदपि) फिर भी (भुवनं) संसार (आज्ञावश्यं) आपकी आज्ञा के अधीन है, और आपकी (सन्निधिः) समीपता—निकटता (वैरहारी) परस्पर के वैर-विरोध को हरने वाली है । और इस तरह (भुवनतिलक !) तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ हे देव ! (एवम्भूतं) ऐसा (प्राभवं) प्रभाव कहाँ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपको न किसी से राग है और न द्वेष, आप न किसी पर प्रसन्न ही होते हैं और न किसी को अपने क्रोध का भाजन ही बनाते हैं, क्योंकि आप परम वीतरागी हैं, राग-द्वेषादि के अभावरूप परम उपेक्षाभाव को अंगीकार किये हुए हैं ! परन्तु फिरभी, आपकी आज्ञा त्रैलोक्यवर्ती जीवों के द्वारा मान्य है तथा आपकी समीपता वैर-विरोध का नाश करने वाली है । साथ ही, आपकी प्रशांत मुद्रा मुमुक्षु जीवों के लिये साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करती है, उसके ध्यान एवं चिंतन से भव्यात्मा आत्माके

वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान करते हैं। और उसी तरह चैतन्य जिनप्रतिमा बनने का अभ्यास करते हैं, अतएव जैसा प्रभाव आपका है वैसा अन्य हरिहरादिक देवों का कहाँ हो सकता है? क्योंकि वे रागी-द्वेषी हैं—अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करते हैं और निंदकों पर रुष्ट होते हैं—उन्हें शाप दे देते हैं। परन्तु हे देव! ये सब बातें आप में नहीं हैं, पूजक और निंदकों पर आपका समान भाव रहता है क्योंकि आप जिन हैं, इन सब विकारों को जीत चुके हैं। अतः आप जैसा प्रभाव अन्य किसी भी देवी-देवता का नहीं हो सकता है ।। २२ ।।

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामंडलीगीतकीर्ति,
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिजनो यः ।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पंथा-
स्तत्त्वग्रंथस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्त्यः ।।२३।।

सुरतिय गावैं सुयश सर्वगति ज्ञानस्वरूपी।
जो तुमको थिर होंहि नमैं भवि आनन्द रूपी ।।
ताहि क्षेमपुर चलन वाट बाकी नहिं हो हैं।
श्रुत के सुमरनमाँहि सो न कबहूँ नर मोहैं ।। २३ ।।

टीका—भो देव! यः जनः त्वां परमेश्वरं स्तोतुं तोतूर्ति त्वरितो भवति कथम्भूतं त्वां? त्रिदिव गणिकामंडलीगीतकीर्तिः त्रिदिवस्य स्वर्गस्यगणिका अप्सरसोऽनीकिन्यो वा तासां मंडली तथा गीता कीर्तिर्यस्य स तं पुनः कथम्भूतं? यः सकल विषयज्ञानमूर्तिः सकलविषयं लोकाऽलोकाकाशविषय यत् ज्ञानं तस्य मूर्तिः। तस्य पुरुषस्य जातु कदाचित् पंथाः मोक्षमार्गः न जोहूर्ति न कुटिलो भवति। कथम्भूतस्य तस्य? क्षेमपदं मोक्षस्थानं अटतः व्रजतः। एषः मर्त्त्यः तत्त्वग्रंथस्मरणविषये न मोमूर्ति न संदेहं प्राप्नोति। तत्त्वग्रंथस्य स्मरणं तस्य विषयस्तस्मिन् ।। २३ ।।

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! (यः जनः) जो मनुष्य

(त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिम्) देवाङ्गनाओं के समूह द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी ऐसे तथा (सकलविषयज्ञानमूर्तिम्) समस्त पदार्थों के विषय करने वाले ज्ञानस्वरूप (त्वां) आपकी (स्तोतुम्) स्तवन करने के लिये (तोतूर्ति:) शीघ्रता करता है (क्षेमम् पदम्) कल्याणकारी स्थान अर्थात् मोक्षको (अटत:) जाते हुए (तस्य) उस मनुष्य का (पन्था:) मार्ग (जातु) कभी न (न जोहूर्ति) टेढ़ा नहीं होता और (न एष: मर्त्य:) न यह मनुष्य (तत्त्वग्रन्थ-स्मरणविषये) तत्त्वग्रन्थों के स्मरण के विषय में (मोमूर्ति) मूर्च्छित होता है—मोहको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो भद्र मानव आपकी समीचीन भक्ति करता है और आपके पवित्र अनन्तज्ञानादि गुणों की स्तुति करता है, उनका चिन्तवन और मनन करता है—वह शीघ्र ही कर्मबन्धन को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और कर्मबन्ध के विनाश से पूर्णज्ञानी होता हुआ फिर कभी भी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता है ।। २३ ।।

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव त्वां य: समयनियमादादरेणस्तवीति ।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानां भवतिविषय: पञ्चधा पञ्चितानाम् ।।२४।।

अतुलचतुष्टय रूप तुम्हें जो चितमें धारै ।
आदरसों तिहुँकालमाँहि जब थुति विस्तारै ।।
सो सुकृती शिव पंथ भक्ति रचना कर पूरै ।
पंच कल्यानक ऋद्धि पाय निहचै दुख चूरै ।। २४ ।।

टीका—भो देव ! य: पुमान् त्वां भगवंतं चित्ते कुर्वन् समयनियमात्कालनियमात् आदरेणस्तवीति तोष्टवीति । समयनियम-स्तस्मात् । कंथम्भूतं त्वां ? निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं सुखं च ज्ञानं च दृग् च वीर्यं च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि । निरवधीनि मर्यादारहितानि च

सुखज्ञानदृग्वीर्याणि च तैः रूप्यते लक्ष्यते इति निरतं खलु निश्चितं सुकृति पुमान् तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पंचधा पंचितानां कल्याणानां विषयो स्थानं भवति। पंचधा पंचिताः विस्तृताः तेषां पंचधा पंचितानाम् ।।२४।।

अन्वयार्थ—(देव !) हे जिनेन्द्र ! (निरवधिसुखज्ञान-दृग्वीर्यरूपम्) अनंतसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्यस्वरूप (त्वाम्) आपको (चित्ते कुर्वन्) हृदय में धारण करता हुआ (यः) जो मनुष्य (समयनियमात्) समय के नियम से अर्थात् त्रिकाल में (आदरेण) विनयपूर्वक (स्तवीति) आपकी स्तुति करता है। (खलु) निश्चय से (सः) वह मनुष्य (तावता) उतने ही से—स्तवन करने मात्र से ही—(श्रेयोमार्गं) मोक्षमार्ग को (पूरयित्वा) पूर्ण करके (पंचधा पंचितानाम्) पंच प्रकार से विस्तृत (कल्याणानाम्) कल्याणकों का—गर्भ, जन्म तप, ज्ञान और निर्वाण रूप पंच कल्याणकों का—(विषयः भवति) पात्र होता है।

भावार्थ—अनन्तचतुष्टयस्वरूप हे नाथ ! जो भव्य पुरुष आपका आदर भक्तिसे स्तवन करता है वह पुण्यात्मा पंच कल्याणकों का पात्र होता हुआ मोक्षमार्ग का नेता होता है ।। २४ ।।

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद त्वत्कीर्त्तने न क्षमाः-
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम् ।
असमाभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणां सखलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ।।२५।।

अहो जगत पति पूज्य अवधिज्ञानी मुनि हारे।
तुम गुण कीर्तनमाँहि कौन हम मन्द विचारे।।
थुति छलसों तुम विषै देव आदर विस्तारे।
शिव सुख पूरनहार कल्पतरु यही हमारे।। २५ ।।

टीका—भक्त्या प्रह्वो नम्रीभूतो यो महेन्द्र तेन पूजितपदे महेन्द्रेण

पूजिते पदे चरणकमले यस्य स तस्यामंत्रणे हे भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद ! त्वत्कीर्त्तने तव स्तवने संयमभृतो गणधरादयोऽपि क्षमा न समर्था न। कथंभूता: संयम भृतः ? सूक्ष्मज्ञान दृशः सूक्ष्मज्ञानमेव दृक् येषां ते। वयं अस्मद विधाः मंदमेधसः के ? तु पुनः तस्माभिः स्तवनच्छलेन स्तोत्रमिषेणैव त्वयि विषये आदरः तन्यते विस्तार्यते, स्तवनस्य छलं स्तवनच्छलं तेन। कीदृशः आदरः परः उत्कृष्टः खलु निश्चितं सकल्याणकल्पद्रुमः नः अस्माकं अस्तु। कीदृशानामस्माकं ? स्वात्माधीनसुखेषिणां, स्वस्य आत्मा स्वात्मा अथवा सुष्ठु च आत्मा च स्वात्मा तदधीनं यत्सुखं तदिच्छतीति तेषां, कल्याणानां कल्पद्रुमः कल्याणकल्पद्रुमः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद !) भक्ति से नम्र हुए देवेन्द्र के द्वारा पूजित हैं चरण जिनके ऐसे हे जिनेन्द्र ! जबकि (त्वत्कीर्तने) आपकी प्रशंसा करने में (सूक्ष्मज्ञानदृशः) सूक्ष्मज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले (संयमभृतः अपि) तपस्वी भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानादि के धारक संयमी योगीश्वर भी—(न क्षमाः) समर्थ नहीं हैं तब (हन्तः) खेद है कि (वयं मन्दाः के) हम जैसे मन्दबुद्धि पुरुष आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? तथापि (स्तवनच्छलेन) स्तवन के छल से (अस्माभिः) हमारे द्वारा (तु) तो सिर्फ (त्वयि) आपके विषय में (परः) उत्कृष्ट (आदरः) आदर-प्रेम ही (तन्यते) विस्तृत किया जाता है। और (खलु) निश्चय से (सः) वह आदर ही (स्वात्माधीनसुखैषिणां) आत्मसुख के इच्छुक (नः) हमलोगों के लिये (कल्याणकल्पद्रुमः) कल्याण करने वाला कल्पवृक्ष होवे।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जैसे परमयोगीन्द्र की, जब द्वादशांग का पाठी इन्द्र भक्तिपूर्वक स्तुति करता है और चार ज्ञान के धारक गणधरादिक भी आपको अपनी स्तुति का विषय बनाते हैं, तथा अनेक ऋद्धियों के धारक क्षीणकाय मुनिपुंगव भी जब

आपके गुणों की स्तुति करते हैं। तो भी वह पूर्णतया आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो पाते। ऐसी अवस्था में आचार्य वादिराज अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तब मुझ जैसा मन्दमति पुरुष आप जैसे जगद्वन्द्य परमात्मा की स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अस्तु, आपके गुणों में जो अनुराग प्रकट किया है—भक्ति से इस स्तवनरूप पुष्पमाला को गूँथा है—सो उक्त गुणानुराग ही आत्महितैषी मोक्ष के इच्छुक हम जैसे पुरुषों का कल्याण करने वाला हो, अथवा मेरी आत्मोन्नति में सहायक हो ।। २५ ।।

●

अकलंक स्तोत्र के रचयिता

अकलंक देव

भारत देश में मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा शुभतुंग और रानी पद्मावती धर्मप्रिय थे। एक समय नगर में मुनिश्री का पदार्पण हुआ। अष्टान्हिका पर्व में चित्रगुप्त मुनिराज के दर्शनार्थ दोनों राजा-रानी अपने दो पुत्रों सहित गये। दोनों ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया और अपने पुत्रों को भी विनोदवश ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया।

समय पाकर दोनों पुत्र वयस्क हुए। दोनों के विवाह की तैयारियाँ की जाने लगीं। तभी पुत्रों ने पिताश्री से पूछा, यह सब इतना बड़ा आयोजन आप किसलिये कर रहे हैं ? तभी पिताश्री ने कहा--बच्चों, आप लोगों की शादी की तैयारी कर रहा हूँ। बच्चों ने कहा—पिताजी ! आपने तो हमें ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया था अब ब्याह कैसा ? पिताजी ने कहा—वह तो विनोदवश दिया था। बच्चों ने कहा—पिताश्री, धर्म और व्रत में विनोद कैसा ? ठीक है, यदि आपने विनोदवश भी दिया था तो उस व्रत को पालने में लज्जा कैसी ? पिताजी ने पुनः कहा—जैसा तुमने कहा वही सही। दोनों बालकों ने अखण्ड ब्रह्मचर्य स्वीकार किया।

दोनों भाइयों ने शास्त्राभ्यास में चित्त लगाया। इनके समय में बौद्धधर्म का बहुत जोर था। अत: इनके मन में बौद्ध तत्त्वों के जानने की इच्छा हुई। अत: वे बौद्धधर्म का अभ्यास करने के लिये अज्ञविद्यार्थी का वेश बनाकर महाबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के पास आ गये, अध्ययन किया। बुद्धिमान बालकों पर जैन होने की शंका कर बौद्ध गुरु ने उनकी परीक्षा की और मृत्युदंड देने के लिये उद्यत हुए। दोनों मठ से दौड़कर अर्द्धरात्रि में बाहर निकले और अपनी रक्षा का उपाय सोचने लगे। तभी निष्कलंक को उपाय सूझ पड़ा। उसने बड़े भाई से कहा—

भैय्या ! सामने सरोवर में बहुत कमल हैं। आप उनमें अपने को छिपा लीजिए। शत्रु पीछे से मारने को आ रहे हैं। जल्दी कीजिये। मैं भी अपनी रक्षा का उपाय करता हूँ किन्तु आप शीघ्र कीजिये। आपके द्वारा जिनधर्म की बड़ी प्रभावना होगी। मुझे अपना जीवन दे देना भी पड़े तो कुछ परवाह न कीजिये। मेरे प्यारे भाई ! जीते रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करें। अकलंक की आँखें भर आईं, अश्रु-धारा बह चली। वे जिनशासन की रक्षा के लिये कमलों में छुप गये।

निकलंक भाई से विदा ले दौड़कर आगे की ओर रवाना हुए। शत्रुओं की तलवार से मारे गये। रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी ने अष्टान्हिका पर्व में अष्टमी से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया। उसमें उसने बहुत-सा द्रव्य व्यय किया। यह बौद्ध भिक्षु संघ को सहन नहीं हुआ। उसने रथयात्रा रुकवा दी और शास्त्रार्थ की घोषणा की। महाराजा शुभतुंग ने अपनी महारानी से कहा—प्रिये ! जब तक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरु के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव नहीं फैलावेगा तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है।

रानी मदनसुन्दरी जिनभक्ति में तल्लीन हो गई। उसकी भक्ति के प्रभाव से पद्मावती का आसन कम्पित हुआ। आधी रात के समय वह आयी और महारानी से बोली—देवी, जबकि तुम्हारे हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति है अतः चिन्ता न करो, तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होंगे। सुनो, कल प्रातःकाल ही अकलंकदेव इधर पधारेंगे। वे जैनधर्म के बड़े विद्वान् हैं। वे संघश्री के दर्प को चूर्ण कर जिनधर्म की प्रभावना करेंगे। तुम्हारा रथोत्सव निर्विघ्न पूर्ण होगा। रानी अति प्रसन्न हुई, पुनः जिनभक्ति में लीन हो गई।

प्रातःकाल अकलंकदेव विहार करते हुए रत्नसंचयपुर पधारे। रानी मुनिश्री के दर्शनार्थ गई। अष्टद्रव्य से पूजा कर गुरु महाराज की वन्दना की। कुशल वार्ता के पश्चात् रानी ने संघश्री का सब हाल गुरु महाराज को सुनाया। अकलंकदेव ने रानी को सन्तुष्ट कर संघश्री से

शास्त्रार्थ के लिये स्वीकृति दे दी। शास्त्रार्थ का पत्र संघश्री के पास भेजा गया।

संघश्री पत्र पढ़ते ही क्षोभित हो उठा। राजा हिमशीतल अकलंकदेव को सम्मानपूर्वक राजसभा में लाये। संघश्री के साथ शास्त्रार्थ करवाया। संघश्री अकलंकदेव के पांडित्य को देख घबरा गया। उसने रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हो गई। संघश्री ने कहा—देखती हो, धर्म पर बड़ा संकट है उसे दूर कर धर्म की रक्षा करनी है। बुद्धधर्म की रक्षा करनी होगी। देवी ने कहा—मैं शास्त्रार्थ करूँगी पर खुली सभा में नहीं; किन्तु परदे के भीतर घड़े में रहकर।

प्रातः संघश्री राजसभा में पहुँचा और राजा से बोला—हम आज शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे। शास्त्रार्थ के समय किसी का मुँह नहीं देखेंगे। राजा ने स्वीकृति दे दी। संघश्री ने परदा लगवा दिया। संघश्री ने देवी की पूजा कर एक घड़े में आह्वान किया।

घड़े की देवी अकलंक के साथ पूर्ण शक्ति से शास्त्रार्थ करती रही। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते हुए छह माह बीत गये। किसी की विजय नहीं हो पाई। अकलंकदेव को चिन्ता हुई। यह संघश्री पहले मेरे सामने एक दिन भी नहीं ठहर सका था। अब छह माह से लगातार शास्त्रार्थ कर रहा है। इसका क्या कारण है। चिन्तित अवस्था में बैठे देख चक्रेश्वरी देवी ने प्रगट हो अकलंक देव से कहा—हे प्रभो! आपसे शास्त्रार्थ करने की शक्ति मनुष्य-मात्र में नहीं है। संघश्री ने तारादेवी का आह्वान कर घड़े में स्थापित किया है वही इतने दिनों से शास्त्रार्थ कर रही है। आप प्रातः शास्त्रार्थ के समय देवी जिस विषय का प्रतिपादन करे उसे पुनः दोहराने को कहना। वह दोहरा नहीं सकेगी और उसे नीचा देखना पड़ेगा।

प्रातः अकलंकदेव राजसभा में आये। उन्होंने राजा से कहा—राजन्, मैंने इतने दिन संघश्री से वाद किया यद्यपि मैं संघश्री को समय मात्र में हरा देता पर मैंने जिनशासन का प्रभाव दिखाने के लिये इतना

समय लगाया है। अब मैं इसका अन्त करना चाहता हूँ। शास्त्रार्थ प्रारम्भ होते ही देवी ने जो बोला उसी को दोहराने के लिए अकलंकदेव ने कहा। देवी चुप रही। अकलंकदेव के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकी। अन्त में अपमानित हो भाग खड़ी हुई।

इसके बाद ही अकलंकदेव उठे और परदे को फाड़कर उसके भीतर घुस गये। वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया, उसे उन्होंने पाँव की ठोकर से फाड़ डाला। संघश्री जैसे मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया। अकलंक की इस विजय से जिनधर्म की अपूर्व प्रभावना हुई। अकलंकदेव ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा– सज्जनों ! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था, किन्तु इतने दिन जो मैंने देवी के साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्म का माहात्म्य प्रगट करने के लिये और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय में प्रकाश डालने के लिये था। यह कहकर अकलंकदेव ने श्लोक पढ़ा—

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणाकेवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यतिजने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्री हितशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धोधान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥

इस प्रकार अकलंकदेव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की, उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अंकित कर जिनशासन की अपूर्व प्रभावना थी।

महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर बहुत खुश हुए। सबने मिथ्यामत छोड़कर जिनधर्म स्वीकार किया। जिनधर्म के प्रभाव से जिनशासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदन सुन्दरी ने बड़े उत्साह से श्रीजीका रथ निकलवाया। आचार्य अकलंकदेव जयवन्त हों।

●

अकलंक-स्तोत्रम्

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्
साक्षाद्येन तथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुली ।
रागद्वेषभयामयान्तक जरा लोलत्वलोभादयो
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(येन) जिनके द्वारा (साङ्गुली) अङ्गुलियों के साथ (स्वयं करतले) अपने हाथ की हथेली में रहने वाली (रेखात्रयं) तीन रेखाओं के (यथा) समान (सालोकम् त्रैलोक्यं) अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को (सकलं) समस्त (त्रिकाल विषयं) त्रिकालवर्ती पदार्थों को (साक्षात्) प्रत्यक्ष रूप से (आलोकितम्) देख लिया गया है, (यत् पदलंघनाय) जिनके पद को उल्लंघन करने के लिये (राग-द्वेष भयामयान्तजरालोलत्वलोभादय:) राग, द्वेष, भय, रोग, यम, जरा, बुढ़ापा, चञ्चलता, लोभ, मोह आदि कोई भी (अलं) समर्थ (न) नहीं (अस्ति) है (महादेव:) महादेव (स) वह (मया) मेरे द्वारा (वन्द्यते) वन्दना किया जाता है ।

भावार्थ—संसार में जिस प्रकार नेत्रवान व्यक्ति को अपने करतल (हाथ में) स्थित तीन रेखाएँ अंगुली सहित स्पष्ट दिखाई देती हैं । उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान में अलोक सहित त्रैलोक्य के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष (करतल में स्थित रेखात्रय की तरह) दिखाई देते हैं वे ही मुझ अकलंक के वन्दना योग्य महादेव हैं । अन्य लौकिक महादेव मेरा सच्चा महादेव नहीं है । राग-द्वेष, भय, रोग, यम, जरा, चञ्चलता, मोह आदि कोई भी विकृतियाँ जिन्हें अपने पद से चलायमान करने में समर्थ नहीं हैं वह ही महादेव मेरे द्वारा वन्दना के योग्य हैं, अन्य रागी-द्वेषी महादेव मेरे द्वारा कभी भी वन्दनीय नहीं है ।

महादेव शब्द का युक्ति-युक्त अर्थ है ''देवानां अधिदेव महादेव'' देवों का देव, देवाधिदेव महादेव है। वह देवों का देव, देवाधिदेव महादेव अरहंत देव ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि महादेव वही है जो अठारह दोषों (क्षुधातृषादि) से रहित है, अन्य कोई लौकिक महादेव, महादेव कभी नहीं हो सकता। सच्चे महादेव अरहन्त की मैं अकलंक वन्दना करता हूँ।

दग्धंयेन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना
यो वा नृत्यति मत्तवत् पितृवने यस्यात्मजो वा गुहः।
सोऽयं किं मम शङ्करो भयतृषारोषार्तिमोहक्षयं
कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमङ्करः शङ्कर॥ २॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (शरभुवा) कामरूप बाणों से उत्पन्न हुई (तीव्रार्चिषा) भयंकर ज्वालाओं वाली (वह्निना) अग्नि के द्वारा (पुरत्रयं) तीन नगरों को (दग्धं) जलाया (वा) और (यः) जो (मत्तवत्) उन्मत्त पुरुष के समान (पितृवने) श्मशान में (नृत्यति) नृत्य करता है (वा) और (यस्य) जिसका (आत्मज) पुत्र (गुहः) कार्तिकेय (अस्ति) है (किम्) क्या (सः) वह (अयम्) यह (मय) मेरा (शङ्करः) शङ्कर (स्यात्) हो सकता है ? नहीं। (तु) किन्तु (यः) जो (भयतृषारोषार्ति-मोहक्षयं कृत्वा) भय, तृषा, क्रोध, दुःख, मोह को क्षय करके (सर्ववित्) सर्वज्ञ हुआ है (तनुभृतां क्षेमङ्करः) जीवों का कल्याण करने वाला है (स) वह (शङ्करः) शंकर (अस्ति) है।

भावार्थ—लोक में शंकर उसे माना है जिसने कामरूप बाणों से उत्पन्न हुई भयंकर ज्वालाओं वाली अग्नि के द्वारा तीनों लोक को जला दिया है अर्थात् जो काम के वशीभूत है, जो श्मशान भूमि में पागल पुरुष की तरह नाचता है तथा जिसका पुत्र कार्तिकेय है। आचार्यश्री अकलंक स्वामी कहते हैं, जिसकी वासनाओं का अन्त नहीं हुआ है वह मेरा अलौकिक शंकर कभी

नहीं हो सकता है, मेरा शंकर तो वही है जो भय, तृषा, क्रोध, दु:ख, मोह को क्षय करके सर्वज्ञता को प्राप्त कर चुका है तथा जो प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है। वही मेरा शं याने शान्ति कर याने करने वाला, शान्ति प्रदान करने वाला शंकर है। इनसे भिन्न अन्य कोई नहीं।

यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्र वक्षस्थलं
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे यो मारयत्कौरवान्।
नासौ विष्णुरनेककाल विषयं यज्ज्ञानमव्याहतं
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णु सदेष्टो मम ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (यत्नात्) प्रयत्न से (कररुहै:) नाखूनों के द्वारा (दैत्येन्द्र वक्षस्थलम्) दैत्यराज हिरण्यकश्यप के वक्षस्थल/सीने को (विदारितम्) छिन्न-भिन्न कर दिया और (य:) जिसने (समरे) युद्ध में (धनञ्जयस्य) धनञ्जय/अर्जुन का (सारथ्येन) सारथी होकर (कौरवान्) कौरवों को (अमारयत्) मरवाया (असौ) वह (विष्णु:) विष्णु (न) नहीं (भवेत्) हो सकता (किन्तु) (यज्ज्ञानं) जिसका ज्ञान (अव्याहत) बाधा रहित, निरावरण बेरुकावट है (विश्वं) तीन लोक को (व्याप्यं) व्याप्त करके (विजृम्भते) वृद्धि को प्राप्त हुआ है (स:) वही (महाविष्णु:) महाविष्णु (मम) मुझ अकलंक को (सदा) सदा/हमेशा (इष्टा) इष्ट है, मान्य है।

भावार्थ—जिसने बहुत प्रयत्न से अपने हाथ के नाखूनों के द्वारा दैत्यराज हिरण्यकश्यप के सीने को छिन्न-भिन्न कर दिया, जिसने अर्जुन का सारथी बनकर युद्ध में कौरवों को मरवाया, ऐसा वह दयाहीन अवतार सबका रक्षक विष्णु कैसे हो सकता है अर्थात् विष्णु नहीं है। विष्णु कौन है ? आचार्यश्री अकलंक स्वामी लिखते हैं कि जिसका ज्ञान बाधा रहित है, आवरण रहित है, रुकावट रहित है, तथा तीन लोक व्याप्त करके वृद्धि को प्राप्त

हुआ है प्राणीमात्र को हित का उपदेश देने से हितोपदेशी/प्राणी-मात्र का रक्षक अरहन्त ही मेरा महाविष्णु मुझे सदा मान्य है/इष्ट है। इनसे भिन्न कोई अन्य जन संहारक विष्णु नहीं हो सकता है।

उर्वश्यामुदपादिरागबहुलं चेतो यदीयं पुनः
पात्रीदण्डकमण्डलु प्रभृतयो यस्याकृतार्थ स्थिति-
माविर्भावयितुं भवन्ति सकथं ब्रह्माभवेन्मादृशां
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितो ब्रह्माकृतार्थोऽस्तु नः ।। ४ ।।

अन्वयार्थ—(यदीयं) जिसके (चेतः) चित्तने (उर्वश्याम्) उर्वशी नाम की देवाङ्गना में (रागबहुलम्) राग की अधिकता को अर्थात् कामवासना की तीव्रता को (उपपादि) उत्पन्न किया (पुनः) और (पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयः) पात्र, दण्ड, कमण्डलु आदि बाह्य परिग्रहरूप पदार्थ (यस्य) जिसकी (अकृतार्थस्थितिम्) अकृतकृत्य दशा को (आविर्भावयितुम्) प्रकट करने में (भवन्ति) समर्थ हैं (सः) वह (मादृशाम्) मुझ जैसों का (ब्रह्मा) ब्रह्मा (कथं) कैसे (भवेत्) हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु (क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितः) क्षुधा, तृषा, थकावट, राग, पीड़ा/व्याधि रहित (कृतार्थ) कृतकृत्य (सः) वही (नः) हमारा (ब्रह्मा) ब्रह्मा (भवेत्) हो सकता है।

भावार्थ—जिसके चित्त ने कुचेष्टाओं के द्वारा उर्वशी नाम की देवाङ्गना में व्रती काम-वासना को उत्पन्न किया है। जो अकृतकृत्य है। अकृतार्थ अन्तरंग दशा के कारण ही जो बाह्य में पात्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण करता है ऐसा अकृतकृत्य मुझ समन्तभद्र का वन्दनीय ब्रह्मा कैसे हो सकता है ? कभी नहीं। हमारा ब्रह्मा कौन है—जो पूर्ण कृतकृत्य है, जिसे संसार में अब कुछ करना शेष नहीं रह गया है, जो कुछ भी करना था वह कर चुका है अतः कृतार्थ है, क्षुधा, तृषा, थकावट, राग-आधि-

व्याधि आदि सर्व दोषों से मुक्त निर्दोष ही हमारा ब्रह्मा हो सकता है इनसे भिन्न अन्य कोई लौकिक ब्रह्मा हमें मान्य नहीं है।

यो जग्ध्वा पिशितं समत्स्य कवलम् जीवं च शून्यं वदन्
कर्ता कर्मफलं न भुंक्त इति योवक्ता स बुद्धः कथम्।
यज्ज्ञानं क्षणवर्ती वस्तु सकलं ज्ञातुं न शक्तं सदा
यो जानन्युगपज्जगत्त्रयमिदं साक्षात् स बुद्धो मम ।। ५ ।।

अन्वयार्थ—(यः) जो (समत्स्य कवलम्) मगरमच्छों के ग्रास वाले (पिशितं) मांस को (जग्ध्वा) खाता है (च) और (यः) जो जीव को (शून्यम्) शून्य (वदन्) कहता है। (च) और (कर्त्ता) कर्म को करने वाला (कर्मफलं) कर्मफल को (न) नहीं (भुंक्त) भोगता (इति) इस प्रकार (यः) जो (वक्ता) कहता है (च) और (यज्ज्ञानं) जिसका ज्ञान (क्षणवर्ती) क्षणिक है अतः (यः) जो (सकलं वस्तु) सम्पूर्ण पदार्थों को (ज्ञातुम्) जानने के लिये (शक्तम्) समर्थ (न) नहीं है (सः) वह (बुद्धः) बुद्ध (कथम्) कैसे (भवेत्) हो सकता है, कभी नहीं। किन्तु (यः) जो (सदा) निरन्तर (युगपत्) एकसाथ (इदम्) इस (जगत्त्रयं) तीन जगत् को (साक्षात्) प्रत्यक्ष (जानन्) जानता है (स) वह (मम) मेरा (बुद्ध) बुद्ध है।

भावार्थ—लोक में जो मगरमच्छों के ग्रास वाले माँस पिण्ड को खाता है, जीव को शून्य कहता है। जो यह कहता है कि जीव कर्म को करता तो है पर उसके फल को भोगता नहीं है तथा जिसका ज्ञान भी क्षणस्थायी है। क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है इस कारण जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं है वह मुझ अकलंक का "बुद्ध" कैसे हो सकता है। आचार्यश्री अकलंक स्वामी लिखते हैं—मेरे द्वारा पूज्य मेरा बुद्ध वही है—जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानने में समर्थ

है। अथवा जिसका ज्ञान त्रिकाल-त्रिगत् के पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है। अन्य कोई लौकिक बुद्ध मुझे इष्ट नहीं है।

ईशः किं छिन्नलिङ्गो यदि विगतभयः शूलपाणिः कथं स्यात्।
नाथः किं भैक्ष्यचारी यतिरिति स कथं साङ्गनः सात्मजश्च॥
आर्द्राजः किन्त्वजन्मा सकलविदिति किं वेत्ति नात्मान्तरायं।
संक्षेपात्सम्यगुक्तं पशुपतिमपशुः कोऽत्र धीमानुपास्ते॥६॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि महादेव (ईशः) ईश है, स्वामी या परमेश्वर है तो (छिन्नलिङ्ग) छिन्न लिंग वाला (किम्) क्यों है? (यदि) यदि (सः) वह (विगतभयः) भयरहित (अस्ति) है (तर्हि) तो (शूलपाणि) त्रिशूल है हाथ में जिसके अर्थात् त्रिशूलधारी (कथं) कैसे (स्यात्) हो सकता है? यदि वह (नाथः) नाथ है, स्वामी है (तर्हि) तो (भैक्ष्यचारी) भिक्षाभोजी (किम्) क्यों (अस्ति) है? यदि (सः) वह (यति) साधु या मुनि (अस्ति) है (तर्हि) तो (सः) वह (साङ्गनः) अंगना सहित (कथं) कैसे (स्यात्) हो सकता है? (च) और (सात्मजः) आत्मज, पुत्र सहित, पुत्रवान् (कथं) कैसे (स्यात्) हो सकता है? (यदि) यदि (सः) वह (आर्द्राजः) आर्द्रा से उत्पन्न हुआ है (तर्हि) तो (अजन्मा) जन्म रहित (किम्) क्यों (अस्ति) है। यदि (सः) वह (सकलवित्) सभी पदार्थों को जानने वाला है (तर्हि) तो (आत्मान्तरायम्) अपनी आत्मा की भीतरी दशा को (किम्) क्यों (न) नहीं (वेत्ति) जानता है (संक्षेपात्) संक्षेप रूप से (सम्यक्) भले प्रकार (उक्तम्) कहे गये (पशुपतिम्) पशुपति को अर्थात् अज्ञानी को (कः) कौन (अपशुः) ज्ञानी/बुद्धिमान (अत्र) यहाँ/इस संसार में (उपास्ते) उपासना-आराधना-पूजा करेगा अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—आचार्यश्री अकलंक स्वामी महादेव के भक्तों से पूछ रहे हैं—तर्क की कसौटी पर कसकर वे समस्या का हल माँग

रहे हैं। यदि हमें प्रश्नों का उत्तर सत्य दे सकते हैं तब तो आपका श्रद्धान ठीक है अन्यथा आपकी महादेव के प्रति उपासना एक अन्धविश्वास मात्र है।

आचार्यश्री के प्रश्न—१. क्या आपका महादेव ईश्वर है ? यदि हाँ तो फिर छिन्नलिंग वाला क्यों है ?

२. यदि वह भयरहित है तो हाथों में त्रिशूल धारण क्यों करता है ?

३. यदि वह सबका स्वामी/नाथ है तो भिक्षा से भोजन क्यों करता है ?

४. यदि वह साधु है तो अपने अर्द्धाङ्ग में स्त्री को धारण करने वाला क्यों है ?

५. वह साधु है तो पुत्रवान् कैसे है ?

६. यदि वह अजन्मा है तो आर्द्रा से उत्पन्न हुआ कैसे है ?

७. यदि वह सर्वज्ञ है तो फिर अपनी आत्मा की भीतरी दशा को क्यों नहीं जानता ?

सारांश यही कि ईश्वर होकर जो छिन्न लिंगवाला है, निर्भय होकर त्रिशूल धारण करता है, वही स्वामी होकर भिक्षा-भोजी है। साधु होकर स्त्री में आसक्त है, पुत्रवान् है, अजन्मा होकर आर्द्रा से उत्पन्न है, सर्वज्ञ होकर भी जो स्वयं की आत्मा की भीतरी दशा को जानने में असमर्थ है वह सचमुच अज्ञानी ही है। ऐसे अज्ञानी की आराधना कोई भी बुद्धिमान् हेयोपादेय बुद्धि का ज्ञाता कभी भी नहीं करेगा। ऐसा महादेव मुझ अकलंक का उपास्य हो ही नहीं सकता है।

मेरा सच्चा महादेव वही है जो ईश्वर है; छिन्नलिंग रहित है, निर्भय होने से शस्त्रादि जिसके हाथों में नहीं है, सबका स्वामी त्रिभुवननाथ है, तृप्त होने से भोजन की इच्छा से भी रहित है

अर्थात् कवलाहार से रहित है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारक होने से स्त्री-पुत्रादि से रहित, जन्म-मरण के दुःखों से दूर त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानता हुआ अपनी आत्मा के अन्तरंग वैभव में लीन है। वही ज्ञानियों के द्वारा उपास्य है।

ब्रह्मा चर्माक्षसूत्री सुरयुवति रसावेशविभ्रान्तचेता:
शम्भु: खट्वाङ्गधारी गिरिपतितनयापाङ्गलीलानुविद्ध।
विष्णुश्चक्राधिप सन् दुहितरमगमद गोपनाथस्य मोहा-
दर्हन् विध्वस्त रागोजितसकलभय: कोऽयमेष्वाप्तनाथ: ।।७।।

अन्वयार्थ—(ब्रह्मा) ब्रह्माजी (चर्माक्षसूत्री) चमड़ा और अक्षमाला को रखते हैं, (तथा) (सुरयुवति रसावेशविभ्रान्त-चेता:) जिनका चित्त देवाङ्गनाओं के प्रेम से विभ्रान्त हो रहा है। (शम्भु) महादेव जी (खट्वाङ्गधारी) चारपाई पर सोने वाले, (गिरिपतितनयापाङ्गलीलानुविद्ध) हिमालय की पुत्री पार्वती के कामचेष्टा से पीड़ित हैं (विष्णु:) विष्णुजी (चक्राधिप:) सुदर्शन चक्ररत्न के स्वामि (सन्) होते हुए (गोपनाथस्य) ग्वालों के राजा की (दुहितरम्) पुत्री को (अगमत्) सेवन करने वाले हैं (एषु) इन ब्रह्मा, महादेव और विष्णुमें (विध्वस्तराग:) राग का नाश करने वाले/वीतरागी (जितसकलभय:) समस्त प्रकार के भय को जीतने वाला (अयम्) यह (आप्तनाथ) वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी तीन लोक का स्वामी (अर्हन्) अरिहन्त (क:) कौन (अस्ति) है ? अर्थात् कोई नहीं है।

भावार्थ—१.लोक में जिसे ब्रह्मा कहा जाता है वह जीवों का कलेवर चमड़ा और अक्षमाला रखता है। स्त्री राग में उन्मत्त हो रहा है। देवाङ्गनाओं के हास-विलास में उसका चित्त चलायमान हो चुका है।

२. लोक में जिसे शम्भु/शंकर कहते हैं वह स्वयं वासना लम्पटी हो चारपाई पर सोता है, पार्वती के राग में अन्धा हो स्वको जानता ही नहीं है।

३. लौकिक विष्णु जिन्हें श्रीकृष्ण के नाम से पुकारते हैं, त्रिखण्ड का राजा होते हुए भी ग्वालों की पुत्रियों में लम्पट हुआ परस्त्री लम्पटी हो रहा है।

इन ब्रह्मा-शंकर और विष्णु में पूर्ण वीतरागी, निर्भय/सकल भयों को जीतने वाला वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी कहलाने योग्य, घातिया कर्मों का क्षय करने वाला कोई भी नजर नहीं आता। सब संसार की उलझन में फँसे राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं अरहन्त कहलाने योग्य कोई नहीं है। मुझ अकलंक का ब्रह्मा-अरिहन्त हैं, शम्भु-अरहन्त हैं तथा विष्णु भी अरिहन्त ही हैं अन्य कोई नहीं ।। ७ ।।

एको नृत्यति विप्रसार्य ककुभां चक्रेसहस्त्रंभुजा
नेकः शेष भुजङ्ग भोगशयने व्यादाय निद्रायते।
दृष्टुं चारु तिलोत्तमामुखमगादेकश्चतुर्वक्त्रता-
मेतेमुक्तिपथं वदन्ति विदुषामित्येतदत्यद्भुतम् ।। ८ ।।

अन्वयार्थ—(एकः) शिवजी (ककुभाम्) दिशाओं के (चक्रे) चक्र-मण्डल में (सहस्त्रं) हजारों (भुजान्) भुजाओं को (विप्रसार्य) फैलाकर (नृत्यति) नृत्य करते हैं। (एकः) विष्णुजी (शेषभुजङ्गभोगशयने) शेषनाग के शरीररूप शय्या पर (व्यादाय) मुख को खोलकर (निद्रायते) सोते हैं (एकः) श्रीब्रह्माजी (चारुतिलोत्तमा मुखम्) सुन्दर तिलोत्तमा के मुख को (दृष्टुम्) देखने के लिये (चतुर्वक्त्रताम्) चार मुखपना को (अगात्) प्राप्त हुए (एते) ये शिव, विष्णु और ब्रह्मा (विदुषाम्) विद्वानों को (मुक्तिपथम्) मोक्षमार्ग को (वदन्ति) कहते हैं (इति) इस प्रकार (एतत्) यह (अति) बड़े (अद्भुतम्) आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—शिवजी अपनी हजारों भुजाओं को फैलाकर दिशाओं के चक्रमण्डल में नाचते हैं। विष्णुजी प्रमादी बनकर

शेषनाग के शरीररूप शय्या पर मुँह खोलकर सोते हैं और ब्रह्माजी ने सुन्दर तिलोत्तमा के रूप को देखने के लिये चार मुख बनाये हैं ऐसी रागी जीवों को अहो ! आश्चर्य है कि लौकिक जन विद्वानों को मुक्ति-पथ का उपदेश देने वाले कहते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है । भला विचार कीजिये जिन्हें अपनी अतृप्त वासनाओं की तृप्ति से फुर्सत नहीं है वे मोक्षमार्ग का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? फिर भी यदि उन्हें मोक्षमार्ग के उपदेशक माना जा रहा है तो यह अति आश्चर्यकारी है, कलिकाल का ही प्रभाव है ।। ८ ।।

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिन: पारदृश्वा
पौर्वापर्यविरुद्धं वचनमनुपमम् निष्कलङ्कं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तम्
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलं निलयं केशवं वा शिवं वा ।। ९ ।।

अन्वयार्थ—(य:) जो (वेद्यम्) जानने योग्य (विश्वम्) विश्व को (वेद) जानता है और जो (भङ्गिन:) नाना प्रकार के राग-द्वेष-शोक-भय-पीड़ादि (जननजलनिधे:) संसारसमुद्र के (पारदृश्वा) पार को देख चुके हैं (यदीयम्) जिनका (वचनम्) वचन (अनुपमम्) उपमा रहित, (निष्कलङ्कम्) निर्दोष (पौर्वापर्यविरुद्धम्) पूर्वापरविरोध से रहित है (सकलगुणनिधिम्) समस्त गुणों के स्वामी (ध्वस्तदोषद्विषन्तम्) नष्ट कर दिये हैं राग-द्वेषादि दोषों को जिन्होंने (साधुवन्द्यम्) ऋषि-मुनियों के द्वारा वन्दनीय (तं) उन महान् परमात्मा को (अहम्) मैं (वन्दे) वन्दना करता हूँ वह (बुद्धं वा) चाहे बुद्ध हो, (वर्द्धमानं वा) चाहे वर्द्धमान हो (वा शतदलनिलयम्) चाहे ब्रह्मा हो (वा केशवम्) चाहे विष्णु हो (वा शिवम्) अथवा महादेव हो ।

भावार्थ—जो जानने योग्य सर्व विश्व को जानते हैं, राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित हैं, संसारसमुद्र से पार हो चुके हैं, जिनके वचन निर्दोष, उपमा रहित, पूर्वापर विरोध से रहित हैं ऐसे

समस्त गुणों के स्वामी, बड़े-बड़े मुनियों से वन्दनीय परमात्मा मुझ अकलंक के लिये वन्दनीय हैं। वे नाम से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, वर्द्धमान कोई भी हों। गुणों की पूजा जैनशासन में है, व्यक्ति या नाम की नहीं ।। ९ ।।

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।।
बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।।

माया नास्ति जटा कपालमुकुटं चन्द्रोनमूर्द्धावली
खट्वाङ्गं न च वासुकिर्न च धनुः शूलं न चोग्रं मुखं।
कामो यस्य न कामिनी न च वृषोगीतं न नृत्यं पुनः
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः सर्वत्रसूक्ष्मः शिवः ।।१०।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसके (माया) नाना प्रकार के रूप स्वांग बनाना (न अस्ति) नहीं है (यस्य) जिसके (जटा) जटा (कपालमुकुटं) कपालमुकुट (चन्द्रः) चन्द्रमा (मूर्द्धावली) मूर्द्धावली (खट्वाङ्गम्) खट्वांग अस्त्र विशेष/हथियार (न) नहीं है (वासुकिः) वासुकि—सर्प (च) और (धनुः) धनुष (शूलम्) शूल (न) नहीं है (च) और (उग्रम् मुखम्) भयावना मुखम् (न) नहीं है (यस्य) जिसके (कामः) काम (च) और (कामिनी) स्त्री (न) नहीं है (च) और (यस्य) जिसके (वृषः) बैल (गीतम्) गीत-गाना (पुनः) और (नृत्यम्) नृत्य करना (न अस्ति) नहीं है (सः) वह (निरञ्जनः) कर्ममल रहित, (सूक्ष्मः) सूक्ष्म (शिवः) शिव (जिनपतिः) जिनेन्द्रदेव (सर्वत्र) सब जगह तीनों लोकों में (अस्मान्) हम सबकी (पातु) रक्षा करें।

भावार्थ—आचार्यश्री अपने पूज्य देवाधिदेव अरहन्त जिनेन्द्र की शानी बताते हुए यहाँ लिखते हैं—जिसके पास स्वाँगरचना रूप माया, जटा, कपाल-मुकुट, चन्द्रमा, मूर्द्धावली, हथियार,

त्रिशूल, धनुष, सर्प आदि नहीं हैं। जिनका मुख उग्र/भयानक न होकर पूर्ण वीतरागता के रस से भींगा हुआ है। जिसके पास न काम है, न स्त्री है, न खेल, गीत, नृत्य आदि कार्य नहीं हैं, जो नित्य निरञ्जन निर्विकार समता कुल देवी में सतत लीन है, कर्ममल से रहित है, निरञ्जन है, सूक्ष्म है, शिव है, सूक्ष्म है वह विश्वव्याप्य तीन लोक का स्वामी सब जगह हमारी रक्षा करें ।। १० ।।

नो ब्रह्माङ्कितभूतलं न च हरेः शम्भोर्नमुद्राङ्कितं
नो चन्द्रार्क कराङ्कितं सुरपतेर्वज्राङ्कितं नैव च।
षड्वक्त्राङ्कित बौद्धदेव हुतभुग्यक्षोरगैर्नाङ्कितं
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम् ।।११।।

अन्वयार्थ—(वादिनः) हे वादियों (इदं) इस (जगत्) संसार को (ब्रह्माङ्कित भूतलं) ब्रह्मा से व्याप्त भूमिवाला (नो) नहीं (पश्यत) देखो। च और (हरेः) श्रीकृष्ण की (मुद्राङ्कितम्) मुद्रा से व्याप्त (शम्भोः) महादेव जी की (मुद्राङ्कितम्) मुद्रा से व्याप्त (चन्द्रार्कशङ्कितम्) चन्द्रमा और सूर्य की किरणों से व्याप्त (सुरपतेः) सुरपति/इन्द्र के (वज्राङ्कितम्) वज्र से व्याप्त (च) और (षड्वक्त्राङ्कितबौद्धदेवहुतभुग्यक्षोरगैः) गणेश, बौद्धदेव, अग्नि, यक्ष और शेषनाग से व्याप्त (नो) नहीं (पश्यत) देखो। अपितु (वादिनः) हे वादियों ! तुम लोग (इदम्) इस (जगत्) संसार को (नग्नं) दिगम्बर (जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्) वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी श्रीजिनेन्द्रदेव की मुद्रा से अंकित (पश्यत) देखो।

भावार्थ—ईश्वर के स्वरूप में विवाद करने वाले वादी लोग इस संसार को विभिन्न रूपों में देखते हैं। उसका निराकरण करते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी वादियों को पुकार कर कहते हैं—हे वादियों, यह संसार ब्रह्मा से व्याप्त भूमिवाला, कृष्ण की मुद्रा से व्याप्त, महादेव की मुद्रा से व्याप्त, चन्द्रमा और सूर्य की

किरणों से व्याप्त, सुरपति के वज्र से व्याप्त और गणेश, बुद्ध, अग्नि, यक्ष तथा शेषनाग भी व्याप्त नहीं है अत: तुम इस संसार को उस रूप मत देखो। यह संसार तो वास्तव में दिगम्बर वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी जिनेन्द्रदेव की मुद्रा से व्याप्त है अत: इसे जिनेन्द्रमुद्रांकित देखो। त्रिकालदर्शी जिनदेव के ज्ञान में सर्व चराचर लोक दर्पणवत् स्पष्ट झलक रहा है, उनके ज्ञान के बाहर अणुमात्र भी नहीं है अत: तुम इस लोक को दिगम्बर जिनमुद्रा से व्याप्त देखो।

मौञ्जीदण्डकमण्डलु प्रभृतयो नो लाञ्छनं ब्रह्मणो
रुद्रस्यापि जटाकपालमुकुटं कौपीनखट्वाङ्गना।
विष्णोश्चक्रगदादिशङ्खमतुलं बुद्धस्यरक्ताम्बरं
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम ।।१२।।

अन्वयार्थ—(मौञ्जीदण्डकमण्डलुप्रभृतय:) मूँज की बनी हुई रस्सी (कमर बन्ध) दण्ड कमण्डलु (जलपात्र) आदि (ब्रह्मण:) ब्रह्मा के (लाञ्छनं) चिह्न (नो) नहीं (अस्ति) हैं। (जटाकपालमुकुटं) (जटाजूट-कपाल-मुकुट कौपीनखट्-वाङ्गना) लँगोटी, खट्वाङ्गा/अस्त्रविशेष अंगना/स्त्री/पार्वती (रुद्रस्य) रुद्र/महादेव का (लाञ्छनम्) चिह्न (नो) नहीं (अस्ति) है। (अतुलं) उपमारहित (चक्रगदादिशंखम्) सुदर्शन चक्र, शंख और गदा आदि (विष्णो:) विष्णु का (लाञ्छनम्) चिह्न (नो) नहीं (अस्ति) है (रक्ताम्बरम्) रक्त वस्त्र धारण करना (बुद्धस्य) बुद्ध का (लाञ्छनम्) चिह्न (नो) नहीं (अस्ति) है। (वादिन:) हे वादियों (जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्) श्री-जिनेन्द्रदेव की परम शान्त वीतराग मुद्रा से चिह्नित (नग्नम्) दिगम्बरत्वम् ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध का यथार्थ चिह्न है अत: (इदं जगत्) इस जगत् को (जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्) जिनेन्द्र मुद्रा से व्याप्त (पश्यत) देखो।

भावार्थ—अन्य लौकिक जन ब्रह्मा-विष्णु-महादेव को भिन्न-भिन्न रूप मानते हुए कहते हैं कि जो कमर में मूँज की रस्सी बाँधे हैं, हाथ में दण्ड, कमलण्डु लिये हैं वह ब्रह्मा हैं, जो सिर में जटा-जूट धारण किये हैं, लंगोटी लगाते हैं, अस्त्र/हथियार लिये हैं तथा पार्वती को अपने साथ (अर्द्धाङ्ग) में रखते हैं वे महादेव/रुद्र हैं तथा जिनके पास चक्र, शंख व गदा रहती है वे विष्णु हैं और लाल वस्त्र को धारण करते हैं वे बुद्ध हैं । यहाँ श्री अकलंक स्वामी लिखते हैं—इस प्रकार की जो मिथ्या श्रद्धा है वह असत्यार्थ है । ब्रह्मा-विष्णु-महादेव के ऐसे असत्यार्थ प्रतिपादक चिह्न बताना असत्यार्थ ही है क्योंकि सत्यार्थ ब्रह्मा, विष्णु आदि के ये लक्षण कभी नहीं हो सकते हैं ।

आचार्यश्री वादियों को पुकार कर कहते हैं—हे वादियों ! जो नग्न दिगम्बर हो, वीतराग जिनेन्द्र मुद्रा से युक्त हो, अपने आत्मस्वरूप रमण करते हैं ऐसे अरहंत ही ब्रह्मा हैं । वे अरहंत देव तीन लोक में शांति प्रदान करने से शंकर हैं/महादेव हैं, वे अरहंत देव ही विष्णु हैं तथा ज्ञानियों के द्वारा अर्चित होने से अरहंत ही बुद्ध हैं, अन्य कोई ब्रह्मा, विष्णु, शंकर बुद्ध नहीं हो सकता । जो स्वयं दुःखी है, जो स्वयं कामी हो, स्त्री को साथ रखता है, जो स्वयं डरपोक हो, हथियार हाथ में लिये है वह हमारा महादेव शंकर कैसे हो सकता है ।। १२ ।।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्
त्वंशङ्करोऽसिभुवनत्रय शंकरत्वात् ।।
धातासि धीर शिवमार्ग विधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोतमोऽसि ।।

नाहङ्कार वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणो केवलम्
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्य बुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनः
बौद्धोधान् सकलान् विजित्यसघटः पादेन विस्फालितः ।।१३।।

अन्वयार्थ—(मया) मुझ अकलंक ने (अहङ्कारवशीकृतेन) मान के वश में किये गये (मनसा) मन से (न) नहीं । (द्वेषिणा) द्वेष से भरे हुए (मनसा) मन से (न) नहीं (अपितु) (केवलम्) सिर्फ/मात्र (नैरात्म्यं) आत्मा के शून्यत्व को (प्रतिपद्य) जानकर/स्वीकार करके (जने) लोगों के (नश्यति) मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होने पर (कारुण्य बुद्ध्या) करुणामय बुद्धि से ही (राज्ञः) राजा (श्रीहिमशीतलस्य) श्री हिमशीतल की (सदसि) सभा में (सकलान्) सभी (विदग्धात्मनः) गर्वीले मूढ़ आत्माओं को (बौद्धोधान्) बौद्ध भक्तों को (विजित्य) जीत करके (सः) उस (घटः) घड़े को (पादेन) पैर से (विस्फालितः) फोड़ दिया ।

भावार्थ—राजा हिमशीतल की सभा में अकलंकदेव का बौद्धों के साथ बहुत लम्बे समय तक विवाद चलता रहा । अकलंकदेव की तार्किक विद्या के सामने सभी बौद्ध विवाद में असफल रहे । तब उन्होंने मायाजाल रचा । तारादेवी को घट में स्थापित कर दिया और परदे की ओट में विवाद शुरू हुआ । तारादेवी के साथ ६ माह तक अकलंकदेव का वाद चलता रहा । एक दिन अचानक आचार्यदेव के मस्तिष्क में सत्यार्थ का प्रकाशन हुआ । उन्होंने सोचा इन बौद्धों में ऐसा कोई विद्वान् नजर नहीं आता जो मुझ स्याद्वादी के सामने ६ माह तक टिक सके । अवश्य यह कोई मायाजाल है । उन्होंने पर्दे को हटाया । वहाँ देखा वाद करने वाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं था । तुरन्त वे समझ गये थे सब देवमाया है । उन्होंने तुरन्त ही उस घड़े को अपने पैर से फोड़ दिया । तारादेवी उसमें से तुरन्त भाग निकली । इसी घटना का चित्रण करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं—

मुझ अकलंक ने सर्वथा आत्मा के अभाव की बात करने वाले, शून्यवाद का ढोंग रचाकर, मोक्षमार्ग से पतित होने वाले लोगों को अनन्त संसार परिभ्रमण से बचाने के लिये करुणाबुद्धि से अहंकार में मदमाते क्षणिकवादियों, समस्त बौद्धों के भक्तों को

हिमशीतल राजा की सभा में जीतकर उस तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया था।

दिगम्बर सन्त वीतरागी होते हैं उन्हें ऐसा कार्य नहीं करना था यदि ऐसी शंका करें तो आचार्यश्री कहते हैं—मैंने यह कार्य किसी ''अहं'' के वश या बौद्धों से द्वेषवश नहीं किया है अपितु अनन्त ज्ञानमय पिटारा परमप्रभु आत्मा है उसके प्रति उनकी जो भूल है नैरात्म्यवाद/शून्यवाद जिसके आश्रय से जीवों का मोक्षमार्ग भ्रष्ट होता है उससे बचकर उन्हें मोक्ष-पथ पर ले जाने के लिये ''कारुणमयी'' बुद्धि से यह मैंने कार्य किया है। मेरा किसी प्राणी से द्वेष नहीं है, नहीं मुझे अहंकार है। सत्य-पथ का प्रदर्शन, मिथ्यामत/मिथ्या-पथ का कदर्थन मेरा कर्तव्य है वही मैंने किया है।

खट्वाङ्गं नेव हस्ते न च रचिता लम्बते मुण्डमाला
भस्माङ्गं नैव शूलं न च गिरि नैव हस्ते कपालं।
चन्द्रार्द्धं नैव मूर्धन्यपि वृषगमनं नेव कण्ठे फणीन्द्रं
तं वन्दे त्यक्तदोषं भवभयमथनं चेश्वरं देवदेवम्॥१४॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसके (हस्ते) हाथ में (खट्वांगं) हथियार विशेष (न अस्ति) नहीं है (यस्य) जिसके (हृदि) वक्षस्थल पर (रचिता) गूंथी हुई (मुण्डमाला) मुण्डमाला (न) नहीं (लम्बते) लटक रही है (यस्य) जिसके (भस्माङ्गम) शरीर पर राख नहीं है (च) और (शूलम्) शूल (न अस्ति) नहीं है (यस्य) जिसके साथ (गिरि दुहिता) हिमालय की पुत्री-पार्वती (न) नहीं है (यस्य हस्ते) जिसके हाथ में (कपालं) कपाल नर खोपड़ी (न) नहीं (अस्ति) है (यस्य) जिसके (मूर्धनि) मस्तक पर (चन्द्रार्द्धम्) अर्द्धचन्द्र (न) नहीं (अस्ति) है (कंठे) कण्ठ में (फणीदं) सर्प (नैव) नहीं ही (अस्ति) है (तम्) उस (देवदेवम्) देवाधिदेव अरहन्त देव महोदव को

(वन्दे) मैं वन्दन, नमस्सकार करता हूँ (यः) जो (त्यक्तदोषम्) राग-द्वेष व क्षुधादि दोषों से रहित है (भवभयमथनम्) संसार के भय का विनाशक है (च) और (ईश्वरं) तीन लोक का स्वामी है त्रिलोकाधिपति है ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में आचर्यश्री अकलंक स्वामी ने बताया है कि मेरे द्वारा वन्दनीय मेरा महादेव कौन है ?—

जिसके हाथों हथियार नहीं है, वक्षस्थल पर मुण्डमाला नहीं लटक रही है, शरीर भस्म से युक्त नहीं है, शूल से रहित है, वैरागी होने से जितेन्द्रिय निष्कामी जिसके साथ स्त्री कभी नहीं रहती है। जिसके हाथ में नर कपाल नहीं रहता, जिसके मस्तक पर अर्द्धचन्द्र नहीं है, कण्ठ में सर्प नहीं है जो वीतरागी सर्व दोषों से रहित संसार भय का विनाशक है, देवों का देव देवाधिदेव/महादेव है, तीनों लोकों का एकमात्र स्वामी है वही त्रिलोकाधिपति देवाधिदेव अरहन्त देव मेरे द्वारा वन्दनीय है। मैं उनकी वन्दना करता हूँ। इनसे भिन्न अन्य कोई लौकिक देव महादेव नहीं है।

किं वाद्योभगवानमेयमहिमा देवाऽकलंकः कलौ
काले यो जनता सुधर्म निहितो देवोऽकलंको जिनः ।
यस्यस्फारविवेकमुद्रलहरीजाले प्रमेयाकुला
निर्मग्ना तनुतेतरां भगवतो ताराशिरः कम्पनम् ।।१५।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिन (भगवान्) भगवान् भट्टाकलंक स्वामी (स्फारविवेकमुद्रलहरीजाले) विशाल सम्यक्ज्ञान रूप समुद्र की तरंगों के समूह में (निर्मग्ना) डूबी हुई अतएव (प्रमेयाकुला) अपार प्रमेय-पदार्थों से व्याप्त (भगवती) भगवती श्रुत देवी ने (ताराशिरः कम्पनम्) तारा देवी के मस्तक को हिलाने की क्रिया को (तनुतेतराम्) विस्तारा और (यः) जिन अकलंक देव ने (कलौ काले) पञ्चमकाल मे (जनताः सुधर्म

निहितः) जनता को उत्तम श्रेष्ठ जिन-धर्म में लगाया (सः) वह (अकलंक) मिथ्यात्वादि कलंक से रहित अकलंक (जिनः) मिथ्यात्व विजेता (देवः) अकलंक देव (यः) जो (भगवान्) तत्त्वज्ञान वेत्ता हैं (अमेयमहिमा) अतुल रत्नत्रय की गरिमा से माहात्म्यवान हैं (किम्) क्या (वाद्यः) शास्त्रार्थ करने योग्य हैं अर्थात् नहीं ।

भावार्थ—भट्टाकलंकदेव की विशाल बुद्धि व तार्किक शक्ति थी । उनका विशाल ज्ञान समुद्र अपरिमित प्रमेय से व्याप्त था उनको अपूर्व तत्त्वज्ञान शक्ति युक्त भगवती सरस्वती देवी तारा देवी के मस्तक को हिलाकर पञ्चमकाल में जिनधर्म की अपूर्व प्रभावना की है जिन्होंने कलिकाल में मिथ्याभिमान से चूर मिथ्यात्वियों का मद दूर कर जनता को उत्तम जैनधर्म में लगाया, जो मिथ्यात्व के कलंक से दूर अकलंक थे ऐसे असीम ज्ञानधारा के पुञ्ज यथार्थ तत्त्ववेत्ता के साथ कौन वाद करेगा अर्थात कोई नहीं । अमेय महिमा अर्थात् रत्नत्रय के धनी चारित्र के शिखर को प्राप्त क्या अकलंकदेव सामान्य जीवों के वाद/शास्त्रार्थ करने के योग्य हो सकते हैं कभी नहीं । अर्थात् ऐसे तार्किक, लोकोत्तर ज्ञानी के साथ कौन अल्पज्ञानी वाद करने की हिम्मत करेगा अर्थात् कोई नहीं ।

सा तारा खलु देवता भगवतीमन्यापि मन्यामहे
षण्मासावधि जाड्य सांख्यमगमद्भट्टाकलंक प्रभोः ।
वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनो मज्जनं
व्यापारं सहते स्म विस्मित मतिः सन्ताडितेतस्ततः ।।१६।।

अन्वयार्थ—(भगवतीमन्यापि) अपने को भगवती श्रेष्ठ-ज्ञानयुक्त मानने वाली (सा) वह (तारा) तारा नाम की (देवता) देवी (खलु) निश्चय से ऐतिहासिक घटना के अनुसार भगवान् श्री भट्टाकलंक के साथ (षण्मासावधि) छह मास तक निरन्तर

शास्त्रार्थ करती रही तथापि (भट्टाकलंक प्रभोः) भगवान् भट्टाकलंक स्वामी के (वाक्कल्लोपरम्पराभिः) युक्ति-युक्त तार्किक वचन रूप महातरंगों की परम्परा से (सन्ताडिता) पराजय को प्राप्त हुई अतः (जाड्यसंख्याम्) अज्ञानियों की गणना को (अगमत्) प्राप्त हुई । अपनी पराजय से लज्जित हो (विस्मितमतिः) आश्चर्यान्वित हो (नूनम्) निश्चय से शर्मिन्दा हुई के समान (अमते) मिथ्या वस्तु स्वरूप के प्रतिपादक बौद्धों के एकान्तमत में ही (इतस्ततः) इधर-उधर (मनो मज्जनं) मन को स्थिर करने की कठिनाइयों को (सहते स्म) सहने लगी (एवम्) ऐसा (वयम्) हम (मन्यामहे) मानते हैं ।

भावार्थ—ऐतिहासिक घटना के अनुसार-अपने आप को सर्वोपरि ज्ञानवाली, भगवती सरस्वती मानने वाली तारा देवी ने भट्टाकलंक देव दिगम्बर साधु से छह माह तक शास्त्रार्थ किया । किन्तु आचार्यश्री की वाद विद्या, पैनी दृष्टि व युक्तियुक्त तार्किक वाणी रूपी तरंगों के सामने वह नहीं टिक पाई, पराजित हो गई और सत्यार्थ तत्त्वज्ञान से अपरिचित अज्ञानियों की गणना को प्राप्त हुई । तारा देवी अपनी पराजय से लज्जित हो आश्चर्यचकित रह गई । अब लज्जित हो मिथ्या एकान्तमत क्षणिकवाद के प्रतिपादक बौद्धों के मत में ही इधर-उधर अपने मन को कठिनता से स्थिर कर कठिनाइयों को सहने लगी ऐसा हम मानते हैं ।

●

श्री सरस्वती स्तोत्रम्

चन्द्रार्ककोटि घटितोज्जवलदिव्यमूर्ते,
श्री चन्द्रिका कलित निर्मल शुभ्रवस्त्रे।
कामार्थदायि कलहंस समाधि रूढे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।१।।

कोटि सूर्य अरु चन्द्रमा की कान्ति से भी तेज है,
चन्द्रमा की किरण सम सब वस्त्र जिसके श्वेत हैं।
कामना सब पूर्ण करती हंस पर आरूढ़ है,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। १ ।।

अर्थ—करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित तेज से भी अधिक तेज धारण करनेवाली, चन्द्रकिरणसमान अत्यन्त स्वच्छ श्वेत वस्त्रों को धारण करनेवाली, सकल मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली तथा कलहंस पक्षी पर आरूढ़ दिव्यमूर्ति श्री सरस्वती देवी ! हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

भावार्थ—यहाँ सरस्वती देवी से कवि का अभिप्राय जिनवाणी से है। जो जिनवाणी माता तीर्थंकर के मुख से निर्गत है, गणधरों द्वारा झेली गई है तथा मुनियों के द्वारा प्रसारित की गई है। कोटि सूर्य चन्द्र की कांति को जीतने से यहाँ तात्पर्य है जिन अर्हन्त केवली के मुख से यह निर्गत है कि उनकी कांति कोटिसूर्य चन्द्र की कांति को भी लज्जित करती थी तथा जो द्वादशांग श्रुत की तेजकान्ति से करोड़ों सूर्य चन्द्र की कांति को निस्तेज करने वाली है। जो इस माँ जिनवाणी को हृदय में धारण करता है वह अज्ञान अन्धकार को नाशकर करोड़ों सूर्य चन्द्रमा की कान्ति को भी फीका करने वाले तेज को प्राप्त होता है। माँ जिनवाणी का वस्त्र कौन सा है ? समीचीन ज्ञानरूप उज्जवल सफेद वस्त्र माँ

जिनवाणी का वस्त्र है तथा ज्ञान के आराधक की सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करती है तथा विवेकरूप हंसपक्षी पर जो आरूढ़ है ऐसी दिव्यमूर्ति माँ जिनवाणी/सरस्वती हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

देवासुरेन्द्र नतमौलिमणि प्ररोचि,
श्री मंजरी निविड रंजित पादपद्मे।
नीलालके प्रमदहस्ति समानयाने,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।२।।

झुक रहे हैं चरण में देवेन्द्र भी जिनके सदा,
मुकुटमणि की किरण से जो दीप्ति पाते हैं मुदा।
केश जिसके नील शोभें, मदमत्त हथिनी चाल है,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। २ ।।

अर्थ—जिनके चरण-कमलों में देवेन्द्र नत मस्तक हैं, देवों के मस्तक में लगे हुए किरीटों के ऊपर लगे हुए बहुमूल्य रत्नों की प्रभा से जिनके चरणकमल सुशोभित हैं, जिनके केश नील वर्ण के हैं तथा जिनकी गति मदोन्मत्त है ऐसी सरस्वती! हमारी नित्य प्रति रक्षा करें।

भावार्थ—जिस माँ जिनवाणी/सरस्वती का वन्दन मणियों से जटित मुकुट वाले देव भी करते हैं तथा जो अपनी वाणी के प्रवाह रूप नील वर्ण केशों द्वारा संसार स्वरूप का चित्रण करने वाली है, और जो ॐकार ध्वनि रूप गजगामिनी चाल से १२ सभा में श्रोताओं को मुग्ध करने वाली है ऐसी माँ जिनवाणी प्रतिदिन हमारी रक्षा करें।

केयूरहार मणिकुण्डल मुद्रिकाद्यैः,
सर्वांगभूषण नरेन्द्रमुनीन्द्र वंद्ये।
नानासुरत्न वर निर्मल मौलियुक्ते,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।३।।

केयूर बाजूबन्द हारक कुण्डलों की कान्ति से,
शोभा पाता अंग जिसका मुद्रिका की कान्ति से।
नरेन्द्र मुनिवर से जो वन्दित मौलि से मुख शोभता,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ॥ ३ ॥

अर्थ—जिनका सर्वांग बाजूबन्द, हार, मणियों के कुण्डल और मुद्रिका आदि आभूषणों से विभूषित है। राजा, चक्रवर्ती व मुनिश्वरों द्वारा जो वन्दनीय हैं विविध प्रकार के उत्तम रत्नों से युक्त निर्मल मुकुट से जिनका मुखमण्डल शोभा को प्राप्त है, ऐसी सरस्वती देवी हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—ज्ञान ही जिसका शरीर है ऐसी माँ जिनवाणी का सर्वांग अनेकान्त–स्याद्वादरूप दो बाजूबन्द से षट्‌द्रव्यरूप मणियों के हार, दया, अनुकम्पा रूप कर्ण कुण्डल और एक शाश्वत आत्मा की मुद्रिका (अंगूठी) रूप आभूषणों से सुशोभित है, जो चक्रवर्ती, मुनीन्द्र, आचार्य , गणधर आदियों से भी वन्दनीय है तथा अनेकान्त रूप विविध रत्नों से युक्त प्रमाण रूप उत्तम मुकुट से जिसका मुखमण्डल शोभा को प्राप्त हो रहा है ऐसी माँ जिनवाणी प्रतिदिन हमारी रक्षा करें।

मंजीरकोत्कनककंकणकिंकणीनां,
कांच्याश्च झंकृतरवेण विराजमाने।
सद्धर्म वारिनिधि संतति वर्द्धमाने,
वागीश्वरि प्रतिदिनं ममरक्ष देवि ॥४॥

स्वर्ण के तोड़े रु कंकण, घुंघरुकी झांझ से,
कमरबन्धों की झंकार से, जो शुशोभित साज से।
सद्धर्म उदधि को बढ़ाती जो निरन्तर वाणी से,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ॥ ४ ॥

अर्थ—जो स्वर्ण के तोड़े, कंकण और घुंघरूओं तथा कमरबन्धों की झंकार करती हुई विराजमान हैं, भगवान जिनेन्द्र

द्वारा प्रतिपादित अहिंसा प्रधानधर्मरूपी समुद्र को निरन्तर बढ़ाने वाली है ऐसी हे सरस्वती देवी ! आज हम सबकी रक्षा करें ।

भावार्थ--जो मां जिनवाणी स्यात्-अस्तिरूपी तोड़े, नास्ति रूपी कंकण, अस्तिनास्ति रूपी घुंघरू और स्यात् अवक्तव्यरूपी कमरबंध को झंकार करती हुई अनादिकालसे विराजमान है तथा अनादि-निधन जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अहिंसामयी प्रधान धर्मरूपी समुद्र का निरन्तर ज्ञानधारा के द्वारा बढ़ा रही है ऐसी माँ सरस्वती हमारी प्रतिदिन रक्षा करें ।

कंकेलिपल्लव विनिंदित पाणि युग्मे,
पद्मासने दिवस पद्मसमान वक्त्रे ।
जैनेन्द्र वक्त्र भवदिव्य समस्त भाषे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।५।।

लज्जित हुए हैं कर-कमल से कमलपत्ते भी सदा,
कमल आसन पर विराजित मुख कमल सम है मुदा ।
जिनदेव के मुख जो निकसी सर्वभाषामयी कहे,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। ५ ।।

अर्थ—जिन्होंने अपने सुकोमल करों से अशोक वृक्ष के कोमल पत्तों को भी तिरस्कृत कर दिया है । जिनका आसन कमल का है, जिसका मुखमण्डल दिन में विकसित होने वाले कमल के समान अत्यन्त सुन्दर है और जो भगवान जिनेश्वर के मुखमण्डल से उत्पन्न हुई सर्वभाषामयी है, ऐसी माता सरस्वती देवी सदा हमारी रक्षा करें ।

भावार्थ--जिसने मुनिधर्म व श्रावक धर्म रूप अणुव्रत-महाव्रत कोमल करपल्लवों से अशोक वृक्ष के कोमल पत्तों को भी लज्जित कर दिया है, भेद विज्ञानरूपी कमलासन पर जो विराजित हैं तथा सप्तभंगरूपी तरंगों युत जिनका मुखमण्डल

कमल-सम सुन्दर है, जो जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निर्गत ७०० लघुभाषा और १८ भाषा से युक्त है ऐसी माँ सरस्वती हमारी सबकी रक्षा करें।

अर्द्धेन्दु मण्डितजटा ललित स्वरूपे,
शास्त्र प्रकाशिनि समस्त कलाधिनाथे।
चिन्मुद्रिका जपसरामय पुस्तकांके,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।६।।

अर्द्ध इन्दु से विभूषित जटा से मनहर लसा,
सर्वशास्त्रों की प्रकाशी कला स्वामिनी जो सदा।
ज्ञान मुद्रा अभयदातृ जप की माला पुस्तकें,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। ६ ।।

अर्थ—अर्द्धचन्द्र से विभूषित जटा के संयोग से जिनका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है, जो सम्पूर्ण शास्त्रों को प्रकाश करने वाली हैं जो समस्त कलाओं की स्वामिनी हैं और जिनकी ज्ञान मुद्रा, जपमाला अभयदान तथा पुस्तक ही जिनके लक्षण हैं ऐसी माँ श्री सरस्वती देवी ! सदा हमारी रक्षा करें ।।६।।

भावार्थ—जो नय रूप अर्द्धचन्द्र से सुशोभित तथा जटा रूप प्रमाण के योग से अत्यन्त मनोहर है जो द्वादशांग श्रुतज्ञान को प्रकाशित करने वाली पुरुष की ७२ व स्त्री की ६४ कलाओं के विवेचन से पारंगत कलाओं की स्वामिनी है, जिनकी ज्ञान मुद्रा ज्ञान की, अभय मुद्रा अहिंसा की जप की माला ध्यान तथा पुस्तक अध्ययन की शिक्षा दे रही है ऐसी माता सरस्वती हमारी प्रतिदिन रक्षा करें ।।६।।

डिंडीरपिंड हिमशंखसिताभ्रहारे,
पूर्णेन्दु बिम्बरुचि शोभित दिव्यगात्रे।
चांचल्यमान मृगशावललाट नेत्रे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।७।।

समुद्र वा तुषार के सम हार शोभे कंठ में,
पूनम के चन्दा सम जो शोभे अंग-अंग प्रत्यंग में।
बाल मृग सम लघु अरु चञ्चला नित कान्ति में,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। ७ ।।

अर्थ—समुद्र के फेन अथवा बर्फ के समान सफेद हार जिनके कण्ठ में हैं, जिनका शरीर पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब के समान अत्यन्त सुशोभित है तथा जिनके नेत्र-कमल मृग के छोटे-छोटे बच्चों के समान चञ्चल है, ऐसी हे सरस्वती देवी ! तुम हमारी प्रतिदिन रक्षा करें ।।७।।

भावार्थ—जो सप्ततत्त्व रूप श्वेत निर्मल मणिमय कण्ठहार धारण किये हुए हैं तथा नव पदार्थ के पूर्ण ज्ञान से जिनका शरीर पूर्णिमा के चन्द्र के समान सुशोभित हो रहा है अथवा धवल-महाधवल रूप महाग्रन्थों की शोभा से जिनका शरीर पूर्ण चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति को प्राप्त है तथा जिनके व्यवहार-निश्चय रूप दो सुन्दर नेत्र प्रतिपल मार्गदर्शन देने से चपलता युक्त हो सुन्दर दिख रहे हैं ऐसी माँ सरस्वती हमारी रक्षा करें ।

पूज्ये पवित्रकरणोन्नत कामरूपे,
नित्यं फणीन्द्र गरुडाधिप किन्नरेन्द्रैः ।
विद्याधरेन्द्र सुरयक्ष समस्त वृन्दैः,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।८।।

करती हैं पावन भविजनों को उन्नत जो काम स्वरूप है,
है वन्दनीय गरुड नाग, नरेन्द्र विद्याराज से।
देवेन्द्र यक्षादिक जनों से, पूज्य सबकी वन्द्य है,
वागीश्वरि रक्षा करो नित दिव्यमूर्ति प्राप्त है ।। ८ ।।

अर्थ—जो सभी को पवित्र करने वाली, उन्नत काम स्वरूप है, जो नागराज, गरुड़राज, किन्नरेन्द्र, विद्याधरराज, देवेन्द्र, यक्ष आदि समस्त देवों के समुदाय से सदा पूजनीय है ऐसी हे सरस्वती देवी ! तुम सदा हमारी रक्षा करो ।

भावार्थ—जिन माँ जिनवाणी को हृदयङ्गम करने वाला अपनी आत्मा को पवित्र बना लेता है, उनको मन में धारण करने वाला सब इच्छाओं को पूर्ण कर उत्तम स्वर्ग-मुक्त अवस्था को पाता है, जो देवेन्द्र, धरणेन्द्र, यक्षेन्द्र, विद्याधरों के द्वारा भी पूजनीय है ऐसी माँ सरस्वती देवी हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्तु मानवाः।
तस्मान्निश्चल भावेन, पूजनीया सरस्वती ॥१॥

सरस्वती के परसाद से, सभी काव्य करें पूर्ण।
इसलिये निश्चल भाव से, सरस्वती हो पूज्य ॥ १ ॥

अर्थ—श्री सरस्वती के प्रसाद से सभी मनुष्य काव्य को पूर्ण करते हैं इसलिये वह सरस्वती देवी निश्चल भाव से सदा पूज्य है।

श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।
अज्ञान तिमिरं हन्ति, विद्या बहुविकासिनी ॥२॥

श्री सर्वज्ञ मुख से उत्पन्न हो , भारती बहुभाषिनी।
अज्ञानतम हरती सदा, बहुविद्या विकासिनी ॥ २ ॥

अर्थ—जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ भगवान अरहन्त के मुख-कमल से उत्पन्न हुई है, अनेक भाषा रूप है, ऐसी माँ जिनवाणी अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर विविध विद्याओं का विकास करने वाली है।

सरस्वती मया दृष्टा दिव्या कमल-लोचना।
हंसस्कन्ध समारूढा, वीणा पुस्तक धारिणी ॥३॥

सरस्वती देखी जो मैंने, दिव्य कमल-लोचन लसे।
जो विराजित हंसस्कन्ध पर, वीणा पुस्तक को धरे ॥ ३ ॥

अर्थ—मेरे द्वारा देखी गई सरस्वती देवी के कमल समान

सुन्दर दिव्य नेत्र हैं जो हाथों में वीणा और पुस्तक धारण की हुई हैं।

भावार्थ—मैंने उस माँ जिनवाणी के दर्शन पाये हैं जो दिव्य व्यवहार-निश्चय रूप लोचनों से युक्त हैं तथा जो सप्तभंग रूपी सुन्दर वीणा और द्वादशांग श्रुत रूपी पुस्तक को अपने दोनों (मुनि-श्रावक) रूपी हाथों में धारण किये हुए हैं और विवेक रूपी हंस पक्षी के स्कन्ध पर आरूढ़ हैं।

प्रथमं भारती नाम, द्वितीयं च सरस्वती।
तृतीयं शारदादेवी, चतुर्थं हंसगामिनी ।।४।।

पञ्चमं विदुषां माता, षष्ठं वागीश्वरि तथा।
कुमारी सप्तमं प्रोक्तं, अष्टमं ब्रह्मचारिणी ।।५।।

नवमं च जगन्माता, दशमं ब्राह्मिणी तथा।
एकादशं तु ब्रह्माणी, द्वादशं वरदा भवेत् ।।६।।

वाणी त्रयोदशं नाम, भाषा चैव चतुर्दशम्।
पञ्चदशं श्रुतदेवी, षोडशं गौर्निगद्यते ।।७।।

नाम भारती प्रथम है, द्वितीय सरस्वती जान।
नाम शारदा तीसरा, हंसगामिनी चार ।। ४ ।।

ज्ञानीजन माता पाँचवाँ, वागीश्वरि छह मान।
कुमारी देवी सातवाँ, ब्रह्मचारिणी आठ ।। ५ ।।

जगन्माता नवम है, दसम ब्राह्मिणी मान।
ग्यारहवाँ ब्रह्माणी कहा, वरदा बारह जान ।। ६ ।।

तेरहवाँ वाणी कहा, चौदह भाषा मान।
श्रुतदेवी पन्द्रह महा, सोलह "गौ" मह जान ।। ७ ।।

अर्थ—सरस्वती माँ जिनवाणी का पहला नाम भारती, दूसरा सरस्वती, तीसरा शारदादेवी, चौथा हंसगामिनी, पाँचवाँ

ज्ञानियों की माता, छठा वागीश्वरि, सातवाँ कुमारी, आठवाँ ब्रह्मचारिणी, नवमाँ जगन्माता, दशवाँ ब्राह्मणी, ग्यारहवाँ ब्रह्माणी, बारहवाँ वरदा, तेरहवाँ वाणी, चौदहवाँ भाषा, पन्द्रहवाँ श्रुतदेवी और सोलहवाँ गौ—इस प्रकार माँ सरस्वती देवी के पर्यायवाची नाम हैं ।

एतानि श्रुतनामानि, प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
तस्य संतुष्यति माता, शारदा वरदा भवेत् ।।८।।

इन श्रुतनाम की पंक्तियाँ, जो उठ प्रातः पढ़ जाय ।
तुष्ट होय माता सदा, इच्छित वर को पाय ।। ८ ।।

अर्थ—माँ जिनवाणी के इन उपर्युक्त पर्यायवाची नामों को जो प्रातःकाल उठकर पढ़ता है, उसके ऊपर माँ सरस्वती संतुष्ट होती है और उसके सकल मनोरथों को पूर्ण करती है ।

भावार्थ—जिनवाणी के पर्यायवाची नामों का प्रातः उठकर जो स्मरण करता है उसकी हेयोपादेय बुद्धि जागृति होती है तथा वह ज्ञान का स्वामी बन इच्छित पद को प्राप्त करता है ।

सरस्वती नमस्तुभ्यं, वरदे कामरूपिणी ।
विद्यारम्भ करिष्यामि, सिद्धिर्भवतु मे सदा ।।९।।

नमन सरस्वती मात को, कामरूपिणी वर दे ।
विद्यारंभ में कर रहा, सिद्ध हो मम सर्वदा ।। ९ ।।

अर्थ—हे सरस्वती देवि ! आप इच्छित कार्य को पूर्ण करने वाली हैं अतः कामरूपिणी हैं, हे मात ! तुम्हें नमस्कार हो । हे देवी मैं विद्यारंभ करूँगा मुझे आपकी कृपा से सदा सिद्धि की प्राप्ति होती रहे ।